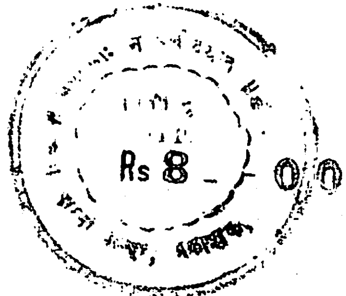




वेदलावण्ये

पारस्करगृह्यसूत्रे उपनयनसूत्राणि



भूमिका

संस्कार

१—संस्कार पद सम् + कृ करना से बनता है—सँवारना, शुद्ध करना, निखारना, अपने अनुरूप करना, अतः प्रभावित करना। प्राणी जो कुछ भी करता, सुनता, देखता और अनुभव करता है उस का प्रभाव उस के मस्तिष्क में रह जाता है। शनैःशनैः यह प्रभाव जमा होते-होते एक दृढ़ रूप प्राप्त कर लेता है और प्राणी को अपने वश में कर कठपुतली के समान अपनी धारा में चलाने लग जाता है। प्राणी उस कर्म से बचना चाहता हुआ भी अज्ञात रूप में उसे करता जाता है। ये अज्ञात शक्तियाँ ही संस्कार कहलाती हैं।

२—अतः संस्कार मानव की वे प्रवृत्तियाँ हैं जो अनेक परिस्थितियों में उत्पन्न होती हैं। मानव अकेला न विचरण करता है न सोचता है। वह सामाजिक प्राणी है। अन्यों से प्रभावित होता है और उन को प्रभावित करता है। इस प्रकार एक जैसी प्रवृत्तियों और विचारधारा वाले व्यक्तियों को एक समान समाज का अंग समझा जाता है और इन प्रवृत्तियों और विचारों को ही उस समाज और उन-उन व्यक्तियों की संस्कृति कहते हैं। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि मनुष्य के संस्कार ही उस की और उस के समाज की संस्कृति हैं।

३—वैदिक संस्कारों के समय कुछ क्रियाएँ की जाती हैं, मंत्र बोले जाते हैं और संस्क्रियमाण व्यक्ति के मस्तिष्क पर उन बातों का प्रभाव डाला जाता है जिन से वह संस्क्रियमाण व्यक्ति अब तक अपरिचित था। संस्कृत व्यक्ति उस अपरिचित कर्म के प्रभाव को तो ग्रहण करता ही है, साथ ही वह यह भी अनुभव करता है कि वह समाज के अन्य व्यक्तियों से पृथक् नहीं

है, उन के सदृश ही है। संस्कार-काल में प्राप्त सम्मान उस में उत्साह और स्फूर्ति उत्पन्न कर देते हैं और वह अपने को किसी कर्मविशेष के योग्य और उस के लिए अधिकृत समझने लगता है। उपस्थित जन भी संस्कार की क्रिया से प्रभावित होते हैं और उन्हें अपने समय में किए गये संस्कार की क्रियाएँ याद आ जाती हैं।

४—प्रत्येक संस्कार में अन्य विशिष्ट कर्मों के साथ यज्ञ भी किया जाता है। यज्ञ का एक प्रत्यक्ष कार्य है—अग्नि में पड़ी हुई वस्तु जिस प्रकार सूक्ष्म परमाणुओं में विभक्त हो कर सर्वत्र फैल जाती है और सब का कल्याण करती है उस प्रकार संस्कृत और उपस्थित जन भी अपने को जनहित में लगाने की प्रेरणा ग्रहण करते हैं।

५—कुमारावस्था में बालक में शारीरिक और मानसिक परिवर्तन होते हैं। उसमें शनैः शनैः कामविकारों का उदय भी होता है। ये परिवर्तन और विकार पूर्वजों द्वारा संयमित किए जाने परम आवश्यक हैं अन्यथा इस अवस्था में बालकों में उच्छृंखलता के प्रवेश कर जाने से समाज की व्यवस्था को महान् क्षति पहुँचती है। अतः उसे आत्मसंयम के साथ अपने प्रति और समाज के प्रति कर्त्तव्यों की शिक्षा और उन पर आचरण कराने का अभ्यास डालना परम आवश्यक है। यह अभ्याससम्पादन उपनयन से प्रारम्भ हो कर शिक्षाकाल में सम्पादित किया जाता था।

६—पारस्कर का अभिमत उपनयन संस्कार[1] की विधियों का संक्षेप आगे दिया जायगा। इन का जो व्याख्यान टिप्पणियों में दिया गया है उस से

---

१. गृह्यसूत्रों में विद्यारम्भ संस्कार का कोई उल्लेख नहीं है। प्राचीन-काल में सम्भवतः इस की आवश्यकता नहीं थी। वहाँ माता-पिता की जागरूकता से खेल-खेल में बालक अक्षर-लिपिज्ञान आदि प्राप्त करते रहे होंगे। अतः उपनयन से ही उन की शिक्षा प्रारम्भ की जाती थी। जैसा

यह अनायास ही समझा जा सकता है कि उपनयन की समस्त क्रियाओं में गूढ़ भाव निहित हैं। ब्रह्मचारियों को उन सब भावों को हृदयंगम कराने से वे न केवल आत्मसंयमी और कुल के दीपक सिद्ध हो सकते हैं, प्रत्युत राष्ट्र और मानवता के परम हितकारक बन सकते हैं। उन में लघुता और क्षुद्र आत्मीयता, साम्प्रदायिकता और स्वार्थपरता की भावनाएँ[1] समाप्त हो कर उदात्त भावनाओं में परिवर्तित हो जाती हैं। आजकल उपनयन संस्कार तो किए जाते हैं, परन्तु उस काल में उपनयन की विधियों का भाव और उन का गम्भीर सन्देश बालकों को हृदयंगम नहीं कराया जाता है। आगे की शिक्षा में भी आधुनिक शिक्षा-प्रणाली में उदात्त भावों के व्याख्यान और आचरण के लिए गौणातिगौण स्थान होने से युवकों की प्रवृत्तियाँ बहुधा अवांछनीय धाराओं में बहती हुई दिखाई पड़ती हैं।[2] उपनयन का ठीक प्रकार से सम्पादन और उस के उत्तर काल में बालकों के चरित्र-निर्माण और कर्त्तव्य-परायणता पर ध्यान देने से देश के सामने उपस्थित अनेकों समस्याएँ सुविधा से हल हो सकेंगी।

टिप्पणियों में लिखा गया है, आयु का विधान धीरे-धीरे पाँच वर्ष से आगे बढ़ता गया। कालान्तर में घरेलू शिक्षा सम्पन्न न होने पर विद्यारम्भ संस्कार भी चालू हो गया—हिन्दू-संस्कार, राजबली पाण्डेय, पृ० १३७-१४० भी देखें।

१. ऐसे व्यक्ति वेद की परिभाषा में परमातिपरम पापी होते हैं—केवलाघो भवति केवलादी। अतः ये महापातकियों से भी निकृष्ट होते हैं।

२. डा० राजबली पाण्डेय लिखते हैं कि पहले उपनयन संस्कार सब के लिए अनिवार्य नहीं था। (पृ० १५७)। इस का धार्मिक महत्त्व था, सामाजिक नहीं। उन का यह लेख विचारणीय है। आगे दिए संहिताओं में उपनयन विषयक विवेचन से और ब्राह्मणों के विवरण की दृष्टि में इसे मानना संभव नहीं। डा० पाण्डेय का यह भी कहना है कि कालान्तर में

अन्य जातियों में संस्कारों की सत्ता

७—संसार की समस्त जातियों में संस्कारों का विशेष महत्त्व पाया जाता है। अविकसित सरल संस्कृति वाली जातियों में कुमारों का अपनी संस्कृति में संस्कार सार्वत्रिक है। इस से वे अपनी सामाजिक एकता को अक्षुण्ण बनाए रखते हैं। जब उन की संस्कृति या हितों पर अन्यों के सम्पर्क आदि से आघात पहुँचता है, तब वे इस उपनयन संस्कार को परम कट्टरता से सम्पादित करते हैं। वहाँ उपनयन संस्कार न कराने वाले व्यक्तियों और बालकों का तिरस्कार होता है। इन जातियों में यह विश्वास है कि सभ्यता का विकास बालक में एकदम होता है और उपनयन से बालक का भूत समाप्त हो कर उस का नया सामाजिक जीवन आरम्भ होता है। अब वह अपने से पहली और आगे आनेवाली पीढ़ियों के बीच एक कड़ी बन जाता है और अपनी समाज के हित का साधक। उन के दो प्रमुख लक्ष्य होते हैं—आत्म-रक्षा और अन्न का संग्रह। इसके लिए ही वे प्रमुख रूप से शिक्षा ग्रहण करते हैं। इन जातियों में शिक्षाकाल में चरित्रनिर्माण, परम्परा, स्वास्थ्य और क्रिया-कलाप पर बहुत बल दिया जाता है।

८—इन जातियों में उपनयन की विधियों में कुमारों की भावनाओं को जागृत करने के लिए अनेक प्रकार के साधनों का प्रयोग किया जाता है—उन्हें सताया जाता है, सोने, कपड़े पहनने आदि से वञ्चित कर दिया जाता है और उन से समाज और मुखिया की रक्षा की प्रतिज्ञा कराई जाती

उपनयन को अनिवार्य बनाने से अनेकों दोष उत्पन्न हो गए। यहाँ तक कि वृक्षों आदि का भी उपनयन किया जाने लगा (पृ० १५८-१६०)। परन्तु यह अनिवार्यता का परिणाम नहीं, प्रत्युत उपनयन के सत्य स्वरूप को न जानने, अश्वत्थ आदि में अभिमानी देवता और धार्मिकता की कल्पना आदि अज्ञान-जन्य अन्धविश्वास का परिणाम था।

है। इस परीक्षा में असफल बालकों का वध कर दिया जाता है अथवा समाज में निम्न बना दिया जाता है।

९—सभ्य और विकसित जातियों में भी उपनयन को बड़ा महत्त्व दिया जाता है। ईसाइयों, यहूदियों, मुसलमानों और अन्य सभी हिन्दुओं से भिन्न जातियों में अपने-अपने ढंग से उपनयन कर के उन्हें अपने धर्म का ज्ञान कराया जाता है। शिक्षा के साधनों के कारण इन जातियों की उपनयन-विधियाँ अविकसित जातियों के समान उग्र नहीं होतीं, परन्तु कहीं-कहीं खतना (=अंगच्छेदन) आदि की विधियों में उन का अवशेष पाया जाता हैं।[१]

उपनयन संस्कार की प्राचीनता

१०. आर्यसमाज में उपनयन संस्कार प्राचीनतम काल से चला आ रहा है। इस का विस्तृत वर्णन गृह्यसूत्रों में उपलब्ध होता है। परम्परागत आचार का ग्रन्थ होने के कारण इन में अपनी विधियों और विनियोगों के लिए कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं किए गए हैं।

११. डा० राजबली पाण्डेय लिखते हैं कि यद्यपि आर्यों के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में सूक्तों का संकलन कर्मकाण्ड की दृष्टि से यथाविधि नहीं है, तथापि वहाँ ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कुछ धार्मिक विधिविधानों से सम्बद्ध सूक्त मिलते हैं जिन में गर्भाधान, विवाह और अन्त्येष्टि का वर्णन है।

---

१. विस्तार के लिए ऐनसाइक्लोपीडिया औफ सोशल साइन्सिज़, ऐनसाइक्लोपीडिया औफ रिलीजन ऐण्ड एथिक्स में इनिश्येशन, सोश्यल औरगेनाइज़ेशन, एडोलैसैंस, एड्यूकेशन आदि पर लेख, एन मिलर का चाइल्ड इन प्रिमिटिव सोसाइटी (अध्याय १०) और एच० वेब्स्टर, प्रिमिटिव सीक्रेट सोसाइटीज़ आदि देखें।

वहाँ धार्मिक विधिविधानों में विनियोज्य कुछ मन्त्र भी पाए जाते हैं। वहाँ प्रासंगिक रूप से समाविष्ट अनेक संदर्भों से संस्कारों पर प्रकाश पड़ता है।

१२. ऋग्वेद में उप + √ नी के रूपों का प्रयोग पाँच बार हुआ है। एक मन्त्र[१] में यह वनस्पति के सम्बन्ध में एक आप्रीसूक्त में आया है। इस मन्त्र के भाष्यकारों के अर्थों से उपनयन पर कोई प्रकाश प्राप्त नहीं होता है। परन्तु इस से पहले दो मन्त्रों[२] को साथ ले कर विचार करने से इन में उपनयन और उस के परिणामस्वरूप शिक्षा का वर्णन स्पष्ट मालूम पड़ता है। एक[३] अन्य मन्त्र में उपनीता-पद ब्रह्मजाया का विशेषण है। उस से अगले मन्त्र में देवों का एक अंग ब्रह्मचारी बृहस्पति ब्रह्मजाया को पत्नी रूप में प्राप्त करता है।[४] इस वर्णन से यह स्पष्ट है कि यदि सायण के द्वारा उद्धृत आख्यान के बिना इन मन्त्रों को पढ़ें तो यहाँ पर बालक और बालिकाओं के उपनयन, ब्रह्मचर्य-पालन और अध्ययन का उल्लेख मिलता[५] है। इस अध्ययनयज्ञ में देव, मनुष्य और राजा—सभी सहयोग देते हैं। स्वा० दयानन्द सरस्वती ने अनेकों मन्त्रों में वसु, रुद्र और आदित्य को एतत्संज्ञक ब्रह्मचारी के अर्थ में लिया है। इन के भाष्य से वेद में अनेक स्थलों पर शिक्षासम्बन्धी लेख मिलते हैं।

१३. अथर्ववेद में एक पूरा सूक्त[६] ही ब्रह्मचर्य पर मिलता है। वहाँ एक सूक्त[७] मेखलाबन्धन पर भी है। ब्रह्मचर्य सूक्त में उपनयन, उपनयन से

---

१. ऋ० २।३।१०। २. ऋ० २।३।८-९। ३. ऋ० १०।१०९।४। ४. वही, म० ५। ५. वही, म० ६। इस में राजानः सत्यं कृण्वानाः को देवाः और मनुष्याः का विशेषण लेना अनुचित न होगा क्यों कि अनेक बार दैवी और मानुषी विशों का ही युगपत् वर्णन मन्त्रों में प्राप्त होता है। इस मन्त्र में पुनः तीन बार आया है और एक बार उत (जिस का अर्थ भी पुनः हो सकता है)। इस दृष्टि से चार देव, मनुष्य, राजन् और सत्यकारी (क्रमशः—ब्राह्मण, वैश्य, क्षत्रिय और शूद्र—?) का निर्देश भी माना जा सकता है। ६. अवे० ११।७। ७. अवे० ६।१३३।

दूसरे जन्म की प्राप्ति, पृथिवी द्युलोक और अन्तरिक्ष रूपी तीन समिधाओं, मेखला, कृष्ण वस्त्रों, दीर्घ श्मश्रुओं, भिक्षा, अग्नि सूर्य चन्द्रमा, मातरिश्वा और जलों में समिधादान, वनस्पति संवत्सर और ऋतुओं के ब्रह्मचारी से सम्बन्ध और स्नातक का वर्णन किया गया है। मेखलासूक्त में मेखला की विशेषताओं, गुरु से दान और ब्रह्मचारी से बन्धन का वर्णन है।

१४. गोपथ ब्राह्मण में[१] उपनयन का थोड़ा सा विवरण मिलता है और शतपथ ब्राह्मण[२] में भी। दोनों में कुछ भेद लक्षित होता है। डा० राजबली पाण्डेय ने शतपथ ब्राह्मण में अजिन या मृगचर्म का उल्लेख[३] बताया है, परन्तु यह विचारणीय है। उन के निर्दिष्ट स्थल पर अजर्षभ के अजिन को बिछाने का वर्णन है। वहीं आगे चल कर इस अजर्षभ का प्रजापति से तादात्म्य बताया गया है।[४] अतः यह अजिन चर्म नहीं रहा होगा। इसी प्रकरण में औदुम्बरी होने का वर्णन है। यह उदुम्बर अन्न रूप ऊर्ज् ही है।[५] गृह्यसूत्रों में औदुम्बर दण्ड वैश्य का बताया गया है[६] जो अन्नोत्पादन का उत्तरदायी था। इस ब्राह्मण में वाजपेय यज्ञ में यूपारोहण का विधान हैं। यह क्रिया ब्रह्मचर्यव्रत समाप्त कर के विवाह कर गृहस्थ बनना ही है। यह सब वर्णों पर चरितार्थ होती है, किसी एक वर्ण के लिए नहीं है। ताण्ड्य महाब्राह्मण में व्रात्यों और व्रात्यस्तोम का वर्णन है। इस व्रात्यस्तोम से पतितसावित्रिकों को शुद्ध कर के पुनः आर्यसमाज में ग्रहण कर लिया जाता था।

१५. उपनिषदों में ब्रह्मचर्याश्रम की अनेकों झांकियाँ मिलती हैं। यहाँ पर शतपथब्राह्मण के समान उपनयनविधि का वर्णन नहीं है, प्रत्युत ब्रह्मचारी के गुरुकुल में वास,[७] गोपालन, गुरु की सेवा, गुरुकुल में प्रवेश,

---

१. गो० १।२।१-८। २. श० ११।३।३।१। ३. श० ५।२।१।२१। ४. श० ५।२।१।२४—प्रजापतिर्वा एष यदजर्षभः। ५. श० ५।२।१।२३। ६. पाउ० सूसं० ९०। ७. आगे सूसं० १ (vii) में सुकाशिनी टिप्पणियाँ देखें। इस से सुकाशिनी टिप्पणियों में प्रकाशित भाव—समस्त प्रजा–विश् वैश्य हैं—की पुष्टि होती है।

अध्ययन और अध्यापन विषयक प्रतिबन्ध, शिष्य के गुण, ब्रह्मचर्य की अवधियों, गायत्री के उपदेश की रीति और उपदेश तथा गुरुकुल छोड़ते समय उपदेश आदि का वर्णन पाया जाता है।

१६. गृह्यसूत्रों में मानव के जीवन में होनेवाले—गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, उपनयन, समावर्तन, विवाह और अन्त्येष्टि—संस्कारों का विस्तृत विधान किया गया है। पीछे के साहित्य में भी बहुत-सी पद्धतियाँ, प्रयोग और कारिकाएँ आदि लिखी गई हैं। इन में भी संस्कारों की विधियों का सविस्तार वर्णन है, परन्तु मन्त्रों और विनियोगों में समन्वय और विधियों के सांस्कृतिक महत्त्वों आदि पर प्रकाश डालने का कोई प्रयास नहीं किया गया है। ऐसा प्रयास स्वा० दयानन्द सरस्वती की संस्कार-विधि में बीज रूप में और पं० आत्माराम की संस्कारचन्द्रिका में सविस्तार लक्षित होता है। स्मृतियों में सामान्यतः संस्कारविषयक विनियोगों के बिना ही विधियों का वर्णन है। पुराण आदि पिछले साहित्य में भी संस्कारों का परिचय उपलब्ध होता है। कुछ सामग्री परम्परा से प्रचलित आचारों से भी मिलती है।

पारस्कर गृह्यसूत्र के उपनयन सूत्र

१७. उपनयन संस्कार का रूप ऋग्वैदिक काल में ही विकसित हो गया प्रतीत होता है। अथर्ववेद के वर्णनों में यह पूर्ण विकसित रूप में पाया जाता है। इन दोनों ही ग्रन्थों में उपनयन समस्त प्रजाओं के लिए बताया गया है। वस्तुतः इन वर्णनों में समस्त मानव जाति को एक माना है। उस में कोई भेद नहीं समझा गया है।

१८. शतपथब्राह्मण में उपनयन संस्कार की विधियाँ वैदिक वर्णनों से साम्य रखती हैं। यहाँ समस्त मानवजाति को ब्राह्मण मान कर उपनयन के धर्म बताए गए हैं।

१९. पारस्कर गृह्यसूत्र ने प्रमुखतया शतपथब्राह्मण की विधियों को ही अपनाया है। दोनों की पदावली में घनिष्ट साम्य है। कुछ उदाहरण ये हैं—

सूसं० पारस्करीय पदावली	शपतथब्राह्मण की पदावली
७ ब्रह्मचर्यमागामिति वाचयति	ब्रह्मचर्यमागामित्याह।
२८ अथास्य दक्षिणं हस्तं गृहीत्वाह-को नामासीति।	अथैनमाहको नामासीति।.... अथास्य हस्तं गृह्णाति।
३१. इन्द्रस्यब्रह्मचार्यस्यग्निराचार्यस्तवाहमाचार्यस्तवासाविति।	इन्द्रस्य ब्रह्मचार्यस्यग्निराचार्य-स्तवाहमाचार्यस्तवासाविति।
३२. अथैनं भूतेभ्यः परिददाति।	अथैनं भूतेभ्यः परिददाति।
३३. प्रजापतये त्वा परिददामि देवाय त्वा सवित्रे परिददाम्यद्भ्यस्त्वौषधीभ्यः परिददामि द्यावापृथिवीभ्यां त्वा परिददामि विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः परिददामि सर्वेभ्यस्त्वा भूतेभ्यः परिददाम्यरिष्ट्या इति।	प्रजापतये त्वा परिददामि देवाय त्वा सवित्रे परिददामि..... अद्भ्यस्त्वौषधीभ्यः परिददामीति।...द्यावापृथिवीभ्यान्त्वा परिददामीति...विश्वेभ्यस्त्वा भूतेभ्यः परिददाम्यरिष्टया इति।
३६-३८. ब्रह्मचार्यसि। अपोऽशान। कर्म कुरु।	ब्रह्मचार्यसीत्याह।...अपोऽशान। ...कर्म कुरु।...
४१. समिधमाधेहि।	समिधमाधेहीति।
३९,४२. मा दिवा सुषुप्था। अपोऽशान। इति।	एनन्तदाह—मा सुषुप्था इति।... अपोऽशानेति।

२०. इसी प्रकार पारस्कर के बहुत से अन्य सूत्र शतपथब्राह्मण की पदावली ही हैं। शतपथब्राह्मण ने कतिपय विधियों का भाव या महत्त्व वर्णित किया है। पारस्कर ने इन स्थलों को निकाल दिया है। साथ ही कुछ विधियों को छोड़ भी दिया है। जो विधियाँ अपनाई हैं, उन के क्रम में भी कुछ आगा-पीछा कर दिया है।

२१. पारस्कर ने कुछ ऐसे विधान भी दिए हैं जो ब्राह्मण ग्रन्थ में नहीं हैं जैसे विभिन्न वर्णों के आयु, दण्ड, वस्त्र, मेखला आदि में भेद। शतपथ-ब्राह्मण ने सावित्री के उपदेश के लिए विभिन्न अवधियों (वर्ष, छै मास आदि—सूसं० ४६-४७) का विधान सभी ब्रह्मचारियों के लिए किया है, जब कि भाष्यकारो के अनुसार पारस्करीय विधान ब्राह्मणेतर ब्रह्मचारियों के लिए है। पारस्कर के गृह्यसूत्र में भी कतिपय ऐसे सूत्र और विधान हैं जो पारस्कर ने स्वीकार नहीं किए हैं, परन्तु पीछे के लोगों ने अन्य सूत्रों से ले कर इन में जोड़ दिए हैं। इन में से कुछ स्थल तो सर्वसम्मति से प्रक्षिप्त माने गए हैं। हो सकता है शेष में भी कुछ प्रक्षिप्त अंश हों। प्रक्षिप्त स्वीस्कृत अंश इस संस्करण में कोष्ठकों में दिखाए गए हैं।[1]

पारस्करीय उपनयन विधि

२. ब्राह्मण के गुणों के अभिलाषी बालक का उपनयन संस्कार आठ वर्ष की अवस्था में, क्षत्रिय गुणों के अभिलाषियों का ग्यारह वर्ष की अवस्था में और वैश्य गुणों के अभिलाषियों का बारह वर्ष की आयु में होना चाहिए। यदि इन आयुओं पर उपनयन सम्भव न हो तो सुविधानुसार कराया जा सकता है, परन्तु इस की चरम अवधि ब्राह्मण गुणाभिलाषी के लिए सोलह वर्ष, क्षत्रिय गुणाभिलाषी के लिए बाईस वर्ष और वैश्य गुणाभिलाषी के लिए चौबीस वर्ष की आयु है। इस के पश्चात् वे सावित्री से वञ्चित हो कर गायत्री के उपदेश और अन्य सामाजिक सम्पर्कों से बहिष्कृत कर दिए जाएँ। प्रायश्चित्त कर के वे उपनयन करा सकते हैं। जिस की तीन पीढ़ियों तक उपनयन न हुआ हो उन्हें व्रात्यस्तोम करना पड़ता है।

२३. ब्राह्मणों को भोजन कराने के पश्चात्, सिर मुण्डवा कर अलंकृत

---

१. इन में अन्तिम कण्डिका सारी प्रक्षिप्त है। मुद्रण में कोष्ठक लगने रह गए हैं।

बालक को यज्ञवेदी पर लाते हैं। वह बालक पश्चिम की ओर बैठ कर कहता है—मैं ब्रह्मचर्य को प्राप्त हुआ हूँ। मैं ब्रह्मचारी हो जाऊँ। आचार्य 'येनेन्द्राय' मन्त्र से वस्त्र-परिधान, 'इयं दुरुक्तं' अथवा 'युवा सुवासाः' मन्त्र से अथवा चुप-चाप मेखलाबन्धन, (यज्ञोपवीतं मन्त्रों से) यज्ञोपवीतपरिधान, 'मित्रस्य चक्षुः' से अजिनग्रहण, 'यो मे दण्डः' मन्त्र से दण्डधारण कराते हैं। 'आपो हि ष्ठा' आदि तीन मन्त्रों से जल से अपनी अंजलि द्वारा बालक की अञ्जलि को भरता है। 'तच्चक्षुः' मन्त्र से सूर्य को दिखाता है। 'मम व्रते' मन्त्र से दाहिने कन्धे और हृदय को छू कर अनुकूलता की भावना कर के दाहिना हाथ पकड़ कर पूछता है—तुम्हारा नाम क्या है। ब्रह्मचारी नाम बताता है। आचार्य कहता है कि तुम इन्द्र, अग्नि और मेरे ब्रह्मचारी हो। अब 'प्रजापतये त्वा' आदि से भूतों से कुशलक्षेम की प्राप्ति की कामना कर के अग्नि की प्रदक्षिणा कराता है। अब बालक को कुछ खिला कर ब्रह्मचर्यपालन, आचमन और कर्म करने, दिन में न सोने, प्रश्न का उत्तर देने और हवन करने का उपदेश देता है।

२४. अब आचार्य बालक को अपने सामने वेदी के उत्तर अथवा दक्षिण की ओर बिठा कर सावित्री का उपदेश करता है। ब्राह्मणगुणाभिलाषी को गायत्री छन्द वाली सावित्री, क्षत्रियगुणाभिलाषी को त्रिष्टुभ् छन्द वाली सावित्री और वैश्यगुणाभिलाषी को जगती छन्द वाली सावित्री का अथवा सब को ही गायत्री छन्द वाली सावित्री का उपदेश किया जाता है। गायत्री के उपदेश के पश्चात् अग्नि को समिधादान, 'अग्नेसुश्रवः' मन्त्र से परिसमूहन, अग्नि की प्रदक्षिणा, खड़े हो कर 'अग्नये समिधमाहार्षम्' मन्त्र से समिधाधान कर के फिर पहले के समान परिसमूहन और पर्युक्षण करे। अब हाथ तपा कर 'तनूपा अग्नेऽसि' और 'मेधां मे देवः सविता' मन्त्रों से मुख को मले। अपने-अपने के वर्ण अनुसार सम्बोधन पूर्वक पहले माता से फिर अन्य इन्कार न करनेवाली स्त्रियों से भिक्षा माँगे। उसे गुरु को दे कर दिन भर मौन रहे। सायंकाल जंगल से गिरी हुई सूखी समिधाएँ ला कर अग्नि में डाल कर ही बोले।

२५. ब्रह्मचारी पृथिवी पर सोए। अधिक खार और नमक न खाए। सदा दण्ड रक्खे, गुरु की सेवा, हवन और भिक्षावृत्ति किया करे। शराब, मांस, हानिकारक स्नान, ऊँचा बैठना, मैथुन, झूठ और चोरी—इन से बचे। यदि आचार्य लेटे हुए, बैठे हुए, खड़े हुए अथवा चलते हुए को बुलाएँ तो क्रम-से बैठ कर, उठ कर, चल कर और दौड़ कर उन की बात सुने। ऐसा व्यवहार करने पर ब्रह्मचारी की ख्याति दूर-दूर तक फैल जाती है।

२६. विभिन्न वर्णों के दण्ड आदि इस प्रकार हैं :—

	ब्राह्मण के लिए	क्षत्रिय के लिए	वैश्य के लिए	सब के लिए (वैकल्पिक)
वासस् (वस्त्र)	सन के	रेशम के	भेड़ की (ऊन) के।	
उत्तरीय अजिन	एणी की	रुरु की	अजा या गो की।	गो की
रशना	मूंज की अथवा कुश, अश्मन्तक बल्व की	धनुष् की	मूर्वा की	
दण्ड	पलाश का	बिल्व का	उदुम्बर का	सब ही लकड़ियाँ

२६अ. वेदाध्ययन के लिए अड़तालीस वर्ष की आयु पर्यन्त ब्रह्मचारी रहे। यदि यह सम्भव न हो तो प्रत्येक वेद का अध्ययन बारह-बारह वर्ष तक ब्रह्मचारी रह कर करे। यदि ऐसा भी न हो सके तो जब तक वेद को पूरा न पढ़ ले ब्रह्मचारी रहे।[1]

२७. अध्ययन समाप्त कर चुकने वाला स्नातक होता है। ये तीन प्रकार के होते हैं—१. विद्यास्नातक—केवल वेद को पढ़ कर संसार में प्रवेश करने वाला २. व्रतस्नातक—ब्रह्मचर्य की अवधि तो पूरी कर लेता है परन्तु

१. यावद्ग्रहणम् का यह अर्थ भी हो सकता है—ग्रहण तक, समझने तक। अर्थात् जब तक पढ़ सके तब तक पढ़े। जब न पढ़ सके, तो छोड़ दे।

वेदाध्ययन पूरा नहीं होता। ३. विद्याव्रतस्नातक—जो वेदाध्ययन और ब्रह्मचर्य की अवधि—दोनों को पूरा कर लेता है।

२८. ब्राह्मण १६ वर्ष की आयु तक, क्षत्रिय २२ वर्ष की आयु तक और वैश्य २४ वर्ष की आयु तक उपनयन न कराने पर गायत्री के उपदेश से वञ्चित हो जाते हैं। यही नहीं। इन के साथ न व्यवहार किया जा सकता है, न इन का उपनयन। इन का अध्यापन भी बन्द कर दिया जाता है। ऐसे व्यक्तियों की तीन पीढ़ी तक यह स्थिति बनी रहने पर चौथी पीढ़ी के उपनयन आदि निषिद्ध हैं, परन्तु व्रात्यस्तोम कर के ये पुनः उपनयन और अध्यापन के पात्र हो जाते हैं।

पारस्करीय विधियों में प्रक्षेप

२९. उपरोक्त विधि में कुछ ऐसी बातें भी मिला दी गई हैं जो पारस्कर ने नहीं लिखी हैं। ये इस प्रकार हैं—

१. यज्ञोपवीत-परिधान के लिए यज्ञोपवीतं परमं पवित्रम् आदि मन्त्र।

२. मित्रस्य चक्षुः आदि मन्त्र से अजिनदान।

३. अंगालम्भन और त्रिपुण्ड तिलक लगाना।

४. उपनीत ब्रह्मचारी के लिए चोटियों, सावित्र व्रत—छै और तीन रात तक या तुरन्त ही सम्पन्न होने वाला—तीन बार मीठे की आहुति दे कर पाँच सांवत्सरिक वेदव्रत—आग्नेय, शुक्रिय, औपनिषद, शौलभ और गोदान का आचरण और व्रतों की समाप्ति पर अवगुण्ठनी का विसर्जन और गोदान।

पारस्कर और आश्वलायन की विधियों में भेद

३०. ऋग्वेद के गृह्यसूत्रकार आश्वलायन की उपनयन विधि मुख्यतः पारस्कराचार्य की विधि से मिलती-जुलती है। दोनों के सूत्रों में शब्दावली भी समान-सी है। दोनों में कुछ भेद भी हैं, जो इस प्रकार हैं :—

(१) आश्वलायन लिखते हैं कि उपनयन के लिए बालक अपने-अपने वर्णों के लिए विहित रंग[1] के कोरे वस्त्र अथवा अपने-अपने वर्ण के लिए विहित अजिन पहन कर यज्ञवेदी पर आए।

(२) आश्वलायन ने वैश्य की मेखला आवी=भेड़ के बालों की बताई है। पारस्कर मूर्वा की बताते हैं।[2]

(३) आश्वलायन ने दण्डों के माप का विधान किया है। यहाँ पर क्षत्रिय का दण्ड औदुम्बर और वैश्य का बैल्व बताया है।[3] यह पारस्कर के विधान के विपरीत है।[4]

(४) अञ्जलिपूरण में आश्वलायन ने 'तत्सवितुर्वृणीमहे' का विनियोग बताया है। अञ्जलि को खाली कर के आचार्य 'देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे' मन्त्र से ब्रह्मचारी के हाथ को पकड़ता है। सविता को बालक का दूसरा और अग्नि को तीसरा आचार्य बताया है। आचार्य सूर्य को दिखा कर ब्रह्मचारी के दीर्घायुष्य की कामना करता है। यहाँ 'तच्चक्षुः' आदि मन्त्र का उच्चारण नहीं किया जाता है।[5]

(५) आचार्य बालक को प्राण का ब्रह्मचारी बता कर उसे प्रजापति को देता है। 'युवा सुवासाः' मन्त्र से आचार्य बालक से अग्नि की प्रदक्षिणा कराता है, पारस्कर मेखलाबन्धन। हृदय और कन्धे के स्पर्श में आश्वलायन ने किसी मन्त्र का विनियोग नहीं किया है।[6]

(६) आश्वलायन समिधाधान को चुपचाप चाहते हैं, परन्तु कुछ तत्कालीन आचार्य 'अग्नये समिधमाहार्षम्' मन्त्र से। इस मन्त्र का पाठ—

---

१. आश्व०गृ०१।१९। ८–९। ये रंग ब्राह्मण का काषाय, क्षत्रिय का माञ्जिष्ठ और वैश्य का हारिद्र हैं। भाष्यकार ने रंगे वस्त्रों का परिधान वैकल्पिक माना है। २. वही, सू० ११। ३. वही, सू० १३। ४. पाउ., सूसं० ८९-९०। ५. आश्व० गृ० १।२०। ४-६। ६. वही, सू० ७।

'अग्नये समिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे। तया त्वमग्ने वर्धस्व समिधा ब्रह्मणा वयं स्वाहा'—पारस्कर के पाठ से भिन्न है (देखो सूसं० ५५)।[१]

(७) आश्वलायन 'तेजसा मा समनज्मि' से तीन बार मुख का मार्जन बताते हैं। 'मयि मेधाम्' आदि मन्त्र से उपस्थान कर के दायाँ घुटना टेक कर आचार्य के पैर छू कर बालक सावित्री के उपदेश के लिए प्रार्थना करता है। आचार्य बालक के हाथ को वस्त्रसहित पकड़ कर गायत्री का उपदेश करता है और ब्रह्मचारी की योग्यता के अनुसार उस से मन्त्र का उच्चारण कराता है और उसे एकाग्र होकर सुनने[२] तथा आचार्य के अधीन हो कर वेद पढ़ने का उपदेश देता है।[३]

(८) आश्वलायन के मत में वेदब्रह्मचर्य का काल केवल बारह वर्ष अथवा वेद पूरा पढ़ लेने तक होता है।[४] भिक्षा पुरुष या स्त्री से माँगी जा सकती है। यहाँ भिक्षा को आचार्य के समर्पण करने के पश्चात् शेष दिन में खड़े रहने का (?) विधान है। सायंकाल ब्रह्मौदन और अनुप्रवचनीय पका कर आचार्य को बताए। आचार्य ब्रह्मचारी द्वारा प्रारम्भ किए हुए हवन में 'सदसस्पतिमद्भुतम्' और गायत्री मन्त्र से दो, ऋषियों के लिए और सौविष्ट आहुतियाँ दे। ब्रह्मभोज के पश्चात् ब्रह्मचारी पूर्ण वेद पढ़ाने के लिए आचार्य से प्रार्थना करे और तीन रात, बारह रात या एक वर्ष तक क्षार और लवण का प्रयोग न करे।[५]

(९) आश्वलायन गव्य अजिन का विधान नहीं करते हैं।

---

१. वही, १।२०।१०; २१।१ २. वही, १।२१।२-७। ३. वही, १।२२।२।। ४. वही, सू० ३-४। भाष्यकार ने इस वर्णन में विद्या, व्रत और विद्याव्रत स्नातकों को उल्लेख माना है। यह पारस्कर की अवधियों से भिन्न है। ५. वही, सू० ९-१७।

आपस्तम्ब गृह्यसूत्र के विशेष विधान

३१. आस्तम्ब उपनयन काल में ही केशवपनसंस्कार चाहते हैं।[१] ये उपनयन के लिए वर्णों के लिए क्रम से वसन्त, ग्रीष्म और शरद्ऋतु का विधान करते हैं।[२] ये क्षत्रिय का दण्ड न्यग्रोध का, स्कन्ध का या अवाचीन अग्रभाग वाला और वैश्य का बेर या गूलर का बताते हैं।[३] सावित्री के उपदेश के पश्चात् ब्रह्मचारी ऊपर के होंठ और कानों का स्पर्श करता है।[४]

३२. केशवपन के पश्चात् समिधाधान, पत्थर पर सीधे पैर का स्थापन और सद्योनिर्मित वस्त्र का परिधान किया जाता है।[५]

३३. आपस्तम्ब ने विभिन्न वर्णों के लिए वस्त्रों, अजिन, मेखला, दण्डों के माप आदि का कोई विधान नहीं किया है। गव्य अजिन का विधान भी नहीं है। इन के मन्त्रों में भी भेद है। विधि अपेक्षाकृत संक्षिप्त है।

गोभिल गृह्यसूत्र की विधि में अन्तर

३४. यहाँ गव्य अजिन का विधान नहीं है।[६] परिधान के लिए क्षौम या शाण, कार्पास और ऊन के वस्त्र बताए हैं, मेखला मूंज, काश और तम्बल (=शण) की, दण्ड पलाश, बिल्व और पीपल के।[७] बालक 'अग्ने व्रत-पते' आदि मन्त्रों से पाँच आहुति देता है।[८] अभिवादन के लिए नया या पुराना नाम कल्पित किया जाता है।[९] आचार्य बालक के दक्षिण स्कन्ध, नाभि, हृदय और बाएँ कन्धे का स्पर्श करता है।[१०] तीन रात के सावित्र व्रत के पश्चात् उस का चरु करे और दक्षिणा में गौ दान दे।[११]

---

१. आपस्तम्ब गृह्यसूत्र, १०।५-८। २. वही, सू० ४। ३. वही, ११।१५। ४. वही, ११।१०-१३। ५. वही, १०।९-१०। ६. गोभिल गृह्यसूत्र, २।१०।८। ७. वही, सू० ७-१२। ८. वही, सू० १५। ९. वही, सू. २१। १०. वही. सू. २४-२८। ११. वही, सू. ४३-४५।

३५. अन्य विधियों में और मन्त्रों के विनियोग आदि में गोभिल गृह्य-सूत्र और पारस्कर गृह्यसूत्र एक दूसरे के बहुत समीप हैं। यह भी ध्यातव्य है कि विभिन्न वर्णों के लिए पृथक्-पृथक् छन्द की सावित्री का उपदेश केवल पारस्कर ही कराते हैं, अन्य सूत्रकार नहीं।

पारस्कर के उपनयनसूत्रों में विनियुक्त मन्त्रों की तालिका

३६. मन्त्रप्रतीक

क्रमसंख्या	सूसं०	विनियोग
(१) अग्नये समिधमाहार्षम्	५५	सावित्री के उपदेश के पश्चात् समिधाधान में।
(२) अग्ने सुश्रवः	५३	सावित्री के उपदेश के पश्चात् हाथ से अग्नि के परिसमूहन में।
(३) (अंगानि च म आप्यायन्ताम्)	६२	अंगालम्भन में जप।
(४) (अदृश्रमस्य)	११९	सूर्योदय पर जप में।
(५) (अप्स्वन्तर्)	११०	मेखला और यज्ञोपवीत का जल में स्थापन (हि-अ० में पाटि० १ भी देखें)।
(६) (आ नो भद्राः)	११५	वेदशिर्स् से अवगुण्ठन में
(७) आपो हि ष्ठ	२३	जलों से अंजलिपूरण में।
(८) (आ ब्रह्मन्)	११५	वेदशिरस् से अवगुण्ठन में।
(९) (आशुः शिशान)	११५	वही।
(१०) इन्द्रस्य ब्रह्मचारी	३१	ब्रह्मचारी को 'आप का शिष्य हूँ' कहने पर आचार्य का अपनी भावना का प्रकाश।

(२५) (नमो वरुणाय)	११०	तीन बार मीठा देने में।
(२६) प्रजापतये त्वा परिददामि	३३	ब्रह्मचारी को भूतों को समर्पित करने में।
(२७) मम व्रते ते हृदयम्	२७	अधिहृदय दक्षिणांस के आलम्भन में।
(२८) (मित्रस्य चक्षुर्धरुणम्)	१७	अजिनप्रदान में।
(२९) मेधां मे देवः सविता	६१	हाथ तपा कर मुख को मलने में।
(३०) (यज्ञोपवीतमसि) (३१) यज्ञोपवीतं परमम्)	१५	यज्ञोपवीतपरिधान में।
(३२) युवा सुवासाः	१२	मेखलाबन्धन में वकल्पिक मन्त्र।
(३३) येनेन्द्राय बृहस्पतिः	९	वासःपरिधापन में।
(३४) यो मे दण्डः परापतत्	२०	दण्डग्रहण में।
(३५) यो वः शिवतमः	२३पाटि०१	जलों से अंजलिपूरण में।

इस प्रकार इस गृह्यसूत्र में १६ मन्त्रों का विनियोग प्रक्षिप्त भाग में है, और १९ का प्रामाणिक भाग में है।

कन्याओं का उपनयन

३७—संस्कृतभाषा की शैली है कि जहाँ स्त्री और पुरुष दोनों का वर्णन अभिप्रेत होता है वहाँ भी पुल्लिग से ही निर्देश किया जाता है। अतः यदि साहित्य में स्त्रियों के उपनयन का विधान स्पष्ट, साक्षात् और सविस्तार नहीं मिलता तो कोई आश्चर्य नहीं। ब्राह्मण और ब्राह्मणी का, राजन्य और राजन्या का, वैश्य और वैश्या का समास क्रमशः ब्राह्मण, राजन्य और वैश्य ही होता है। अतः ब्राह्मण आदि पुल्लिग के प्रयोगों से ब्राह्मण कन्या आदि का भी बोध होता है। इस प्रकार उन का उपनयन विहित है।

३८—इसी शैली का अवलम्बन करते हुए स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने वेदभाष्यों में पुरुषों की शिक्षा के साथ-साथ स्त्रियों की शिक्षा का भी वर्णन किया है।[1] एक मन्त्र के भावार्थ में लिखा है कि 'विद्वानों को अपनी (सु–) शिक्षा से कुमार और कुमारी ब्रह्मचारिणियों को परमेश्वर से ले कर पृथिवीपर्यन्त पदार्थों का बोध कराना चाहिये...।[2] उन्हों ने सत्यार्थ-प्रकाश के तीसरे समुल्लास में लड़कियों के अध्ययन और ब्रह्मचर्य का विवेचन भी किया है।

३९—ऋग्वेद में देवियों की कल्पना, वाक् अपाला घोषा लोपामुद्रा आदि ऋषिकाओं की सत्ता की मान्यता से तथा वैदिक साहित्य में विदुषी नारियों और ब्रह्मवादिनियों के वर्णन से वैदिक काल में लड़कियों के उपनयन और उच्चतम शिक्षा प्राप्त करने की स्थिति का अनुमान सुकर है।

४०—अथर्ववेद के ब्रह्मचारी-सूक्त में ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणियों का युगपत् वर्णन हुआ है :—

'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् ।
अनड्वान् ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीषति ।'[3]

इस मन्त्र से उस काल में लड़के और लड़कियों के उपनयन की सत्ता सुस्पष्ट है। इस की पुष्टि ब्रह्मचारिणी, आचार्या आदि पदों, 'पुरा नारीणामपि मौञ्जीबन्धनमिष्यते' आदि स्मृतिवाक्यों, स्मृतियों में स्त्रियों के मन्त्र-

१—उदाहरण के लिये य० ६।२४, २५ आदि का दयानन्दभाष्य देखें।

२—य० ६।८ का भाष्य।

३—अवे० ११।७।१८। यहाँ अनड्वान्-पद कामसूत्र में वर्णित वृष-पुरुष का द्योतक है, बैल का नहीं। इसी प्रकार 'अश्व' अश्वजाति के पुरुष और 'घास' रतिसुख के द्योतक हैं।

हीन संस्कारों[1] के विधान रूप ऐतिहासिक अवशेषों, रामायण में कौशल्या के यज्ञ करने के वर्णन, शेष साहित्य में स्त्रियों की शिक्षा और आश्रमों में निवास और यज्ञोपवीतिनी आदि पदों से होती है।

शूद्रों की स्थिति और उन का उपनयन

४१—इस विषय पर कई विद्वानों ने अधिकृत रूप से लिखा है।[2] डा. अम्बेदकर के 'हू वर ही शूद्राज' और डा. शर्मा के 'शूद्राज़ इन एन्शियेण्ट इण्डिया' में इस विषय का विस्तृत विवेचन किया गया है। शूद्रों के विषय में जितने अध्ययन अब तक हुए हैं उन में दो दृष्टियाँ काम करती हैं :—१. शूद्र श्रमिक और समाज में नीचतम वर्ण हैं २. इस भावना की प्रतिक्रिया रूप शूद्रों को उच्च वर्ण का सिद्ध करना। किसी भी अध्ययन में शुद्ध साहित्यिक और भाषा की दृष्टि से विवेचन प्रस्तुत नहीं किया गया है। यह विवेचन बहुत विस्तृत है। अतः यहाँ कतिपय विचार परम संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किए जाते हैं।

४२—वैदिक मन्त्रों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वहाँ मानव जाति के एक, दो, तीन, चार और पाँच विभागों का बहुधा उल्लेख पाया जाता है। समान संख्या के विभागों का वर्णन भी सर्वत्र समान नहीं है। उन के मूल में विभिन्न दृष्टियाँ रही प्रतीत होती हैं। तो भी थोड़े से व्याख्यान से उन में सामञ्जस्य स्थापित किया जा सकता है।

४३—ऋग्वेद के एक मन्त्र में **मनुओं की समस्त प्रजाओं** को अग्नि द्वारा सृष्ट बताया गया है :—

---

१. यथा मनु० २।६६ देखें।

२. देखो डा. शर्मा का शूद्राज़ इन एन्शिएण्ट इण्डिया में प्रदत्त विवरण।

'स पूर्वया निविदा कव्यतायोरिमाः प्रजा अजनयन्मनूनाम् ।
विवस्वता चक्षसा द्यामपश्च देवा अग्नि धारयन् द्रविणोदाम् ॥[१]

इस मन्त्र में प्रजा के अन्य कोई विभाग नहीं बताए हैं। ये प्रजाएँ आर्य ही हैं :—'उरु ज्योतिश्चक्रथुरार्याय' ।[२] इसी मन्त्र में 'दुहन्ता मनुषाय दस्रा' तथा पुनरुक्त अंश 'ज्योतिर्जनाय चक्रथुः[३]' में आर्य, मनुष और जन को समानार्थक माना है।

४४—पं० अखिलानन्द ने लिखा है कि 'वेद के संबंध में जहाँ कहीं पर किसी जाति का नाम मिलता है तो **ब्राह्मण जाति** का ही मिलता है अन्य का नहीं, वेद और ब्राह्मण का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है।'[४] वस्तुस्थिति यह मालूम पड़ती है कि वैदिक काल में मानव मात्र को ब्राह्मण कहा जाता था।[५]

४५—अन्यत्र प्रजाओं के दो विभाग किए गए हैं। इन के नाम भिन्न-भिन्न हैं—

(१) आर्य और दस्यु

'विजानीह्यार्यान् ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्धया शासदव्रतान्' ।[६]

दस्युओं को धनिन् बताया है।[७] ये व्रत और यज्ञ से हीन कहे गये हैं—

'अन्यव्रतममानुषमयज्वानमदेवयुम् ।
अव स्वः सखा दुधुवीत पर्वतः सुघ्नाय पर्वतः' ॥[८]

मनु के अनुसार चारों वर्णों से बहिर्भूत आर्य और म्लेच्छ भाषा बोलने वाले सब दस्यु हैं :—

---

१. ऋ० १।९६।२. २. ऋ. १।११७।२१. ३. ऋ. १।९२।१७। ४. वेदत्रयीसमालोचन पृ० १८२। ५. आगे मंसं० ४२।५ तथा ऊपर संदर्भ १७–१८ देखें। ६. ऋ. १।५१।८। ७. ऋ. १।३३।४ ८. ऋ. ८।७०।११.

'मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयो बहिः ।
म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः ॥[१]

स्वामी दयानन्द ने ये विभाग चारों वर्णों के व्यक्तियों के माने हैं ।[१]

(२) दास और आर्यः—

'अन्तर्यच्छ जिघांसतो वज्रमिन्द्राभिदासतः ।
दासस्य वा मघवन्नार्यस्य वा सनुतर्यवया वधम्' ॥[२]

इस वर्णन में दासों और आर्यों को सम स्तर पर रक्खा गया है। क्रम में पहले दास का उल्लेख है, फिर आर्य का ।

(३) ब्रह्म और क्षत्रः—

'यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह ।
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना' ॥[३]

प्रजा के ये विभाग राष्ट्र की शक्तियों के द्योतक हैं। समस्त शक्तियाँ इन के अन्तर्गत ही हैं। ये दोनों अगले मन्त्र के इन्द्र और वायु के अनुरूप माने जा सकते हैं ।[४]

(४) मानुषी क्षिति और दैवी विश्

'मखस्य ते तविषस्य प्र जूतिमियर्मि वाचममृताय भूषन् ।
इन्द्र क्षितिनामसि मानुषीणां विशां दैवीनामुत पूर्वयावा' ॥[५]

---

१. मनु १०।४५. १. ऋभाभू० पृ० २९९—वेदरीति से इन के दो भेद हैं, एक आर्य और दूसरा दस्यु। २. ऋ. १०।१०२।३. ३. य० २०।२५। य० १८। ३८—४४ और १९।५ आदि में भी ये ही दो विभाग माने गए हैं। ४. य० २०।२६—यत्रेन्द्रश्च वायुश्च सम्यञ्चौ चरतः सह। तं लोकं प्रज्ञेषं यत्र सेदिर्न विद्यते ॥ ५. ऋ. ३।३४।२.

मानुषी क्षिति मानुषी विश् ही है—'विशां कविं विश्पतिं मानुषीणाम्'।[१] यहाँ 'स देवेषु वनते वार्याणि' में दैवी विश् का निर्देश माना जा सकता है। इस वर्णन में दैवी विश् मानुषी विश् के अन्तर्गत ही मानी जा सकती है, उस से पृथक् नहीं।

(५) अयज्वन् और यज्वन्

'अयज्वानो यज्वभिः स्पर्धमानाः।'[२]

अगले मन्त्र में यज्वानः को 'क्षितयो नवग्वाः' कहा है।[३] ये ऊपर वर्णित दस्यु और आर्य माने जा सकते हैं। 'स निरुध्या नहुषो यह्वो अग्निर्विश्चक्रे बलिहृतः सहोभिः'[४] में इन्हें नहुष् और विश् से वर्णित किया है। सायण-भाष्य की योजना अस्वाभाविक है।

(६) ब्राह्मण और देव

'तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम्'।[५]

अन्यत्र ब्रह्म को ब्रह्मचारियों से[६] और देवों को अमृत से[७] गतिमान् बताया है। संभवतः ऋग्वेद ने 'अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः'[८] में इन विभागों को मानुष और देव कहा है।

(७) शूद्र और अर्य

'यद् ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां, यदिन्द्रिये।
यच्छूद्रे यदर्ये यदेनश्चकृमा वयम्'॥[९]

---

१. ऋ. ५।४३। श० ११। ५।४।१७ में दैवी प्रजा को मुख से उत्पन्न छन्द और मानुष प्रजा को प्रजनन से उत्पन्न कहा है। २. ऋ. १।३३।५. ३. ऋ. १।३३।६. ४. ऋ. ७।६।५. ५. अवे. ११।७।२३. ६. अवे० १९।१९।८. ७. वही, मं० १०। ८. ऋ. १९।१२५।५। आगे मंसं० ४२।५ की टिप्पणी भी देखें। ९. य० २०।१७.

इस में मानवों के ये ही दो विभाग किये गये हैं। इन में शूद्र का उल्लेख पहले किया गया है। वर्णन की शैली से शूद्र का पूज्यत्व सुस्पष्ट है। इस में ब्रह्म और राजन्य का उल्लेख नहीं है। इन का अन्तर्भाव शूद्र और अर्य में अभिप्रेत है। यजुर्वेद में अर्य पद आद्युदात्त भी है और अन्तोदात्त भी। 'शूद्रा यदर्यजारा न पोषाय धनायति'[१] और 'शूद्रो यदर्यायै जारो न पोषमनु मन्यते'[२] में 'अर्यजारा' पद शूद्रा का और अर्यायै जारः 'शूद्र' का विशेषण है। इन दोनों मन्त्रों में 'न' सर्वत्र ही उपमावाचक है। इस योजना से इन मन्त्रों में भी मानव जाति के शूद्र और अर्य विभागों का ही वर्णन उपलब्ध होता है।

(८) शूद्र और आर्य

'तां मे सहस्राक्षो देवो दक्षिणे हस्त आ दधत्।
तयाहं सर्वं पश्यामि यश्च शूद्र उतार्यः'॥[३]
'उदग्रभं परिपाणाद् यातुधानं किमीदिनम्।
तेनाहं सर्वं पश्याम्युत शूद्रमुतार्यम्'॥[४]
'प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्रे उतार्ये'॥[५]

अथर्ववेद की पदानुक्रमणीकार ने यहाँ सर्वत्र 'उत' और 'आर्य' की सन्धि मानी है। अथर्ववेद में 'अर्य' पद अन्तोदात्त है। अतः यहाँ 'उत' और 'अर्य' की सन्धि नहीं है। इन मन्त्रों में भी शूद्र को आर्य से पहले वर्णित किया है। ऋग्वेद में आर्यों को तीन प्रजाएँ बताया गया है :—'त्रयः कृण्वन्ति भुवनेषु रेतस्तिस्रः प्रजा आर्या ज्योतिरग्राः।'[६] पं०अखिलानन्द लिखते हैं

---

१. य० २३।३०. २. य० २३।३१. ३. अवे० ४।२०।४. ४. वही मं० ८। ५. अवे० १९।६२।१. ६. ऋ. ७।३३।७.

कि 'वेद में द्विजों को आर्य कहा है, शूद्रादि को नहीं।'[१] सामान्यतः ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को ही द्विज माना जाता है। यदि प्रकृत विभाग में 'आर्य' को इन तीनों वर्णों का द्योतक मान लें, तो शूद्र चौथे वर्ण का वाचक बन जाता है। शतपथब्राह्मण में पशुओं को पूषा[२] कहा है। साथ ही पुष्टिकारक होने से पृथिवी को पूषा=शौद्रवर्ण माना है। वहाँ पशुओं को पुष्टि[३] और 'दैव्यो विशः'[४] कहा गया है। ऐसी स्थिति में समस्त पोषक गुण सम्पन्न प्राण, पदार्थ, भाव और स्थितियाँ पूषा=शौद्रवर्ण=शूद्र हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर मानवों में परोपकार, ज्ञान और सेवा आदि द्वारा पोषण करने वाले व्यक्ति ही 'शूद्र' ठहरते हैं। ऐसे व्यक्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों वर्णों के हो सकते हैं। निरुक्त में आर्य—का अर्थ ईश्वरः पुत्र[५], अष्टाध्यायी में स्वामी और वैश्य[६] तथा निघण्टु में ईश्वर[७] दिया गया है। इस अर्थ की पुष्टि में शूद्र का अर्थ 'जो ईश्वरपुत्र नहीं है=असमृद्ध=त्यागी, संन्यासी (?)' होगा। यजुर्वेद में एक स्थल पर इस विभाग को शूद्र और ब्राह्मण बताया है—'अशूद्रा अब्राह्मणास्ते प्राजापत्याः।'[८]

४६—कई बार मानव जाति के तीन विभाग भी किये गये हैं:—

(१) देव, असुर और मनुष्य

'यथा चक्रुर्देवासुरा यथा मनुष्या उत।
एवा सहस्रपोषाय कृणुतं लक्ष्माश्विना'॥[९]

---

१. वेदत्रयीसमालोचन, पृ० २१७. २. श० ३।१।४।९. ३. वही. ४. श० ३।७।३।९। ५. नि०. ६. पा० ३।१।१०३. ७. निघं २।२२।२. ८. य० ३०।२२। यहाँ यह पदावली दो बार प्रयुक्त हुई है। पहली बार अतिदीर्घ, अति ह्रस्व, अतिस्थूल, अतिकृश, अतिशुक्ल, अतिकृष्ण, अतिकुल्व और अतिलोमश को और दूसरी बार मागध, पुंश्चली, कितव और क्लीव को अशूद्र और अब्राह्मण में विभक्त किया है। ९. अवे० ६।१४१।३.

यहाँ पर 'देवा' अश्विना का विशेषण है। यदि इसे मानव जाति से भिन्न माना जाये तो यहाँ दस्यु और आर्य के समान दो ही विभाग रह जायेंगे।

(२) ऋभु, असुर और ऋषि

'यां मेधामृभवो विदुर्यां मेधामसुरा विदुः।
ऋषयो भद्रां मेधां यां विदुस्तां मय्या वेशयामसि' ॥[१]

इन तीनों विभागों को एक समान भाव से वर्णित किया गया है।

(३) ब्रह्म, सोम, राधस्

'यः सुन्वन्तमवति यः पचन्तं यः शंसन्तं यः शशमानमूती।
यस्य ब्रह्म वर्धनं यस्य सोमो यस्येदं राधः स जनास इन्द्रः' ॥[२]

इस के पूर्वार्द्ध में चार विभाग किये गये हैं, उन की दृष्टि में उत्तरार्द्ध में तीन विभाग माने जा सकते हैं।

(४) ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य

'ब्राह्मण एव पतिर्न राजन्यो न वैश्यः।
तत्सूर्यः प्रब्रुवन्नेति पञ्चभ्यो मानवेभ्यः ॥[३]

यहाँ पर समस्त मानव जाति को पंच मानव कह कर उस के तीन ही विभाग किये हैं। इन में शूद्र का वर्णन नहीं है। उन का अन्तर्भाव इन्हीं तीन में अभिप्रेत है।

(५) देव, मनुष्य, राजन्य

'पुनर्वै देवा अददुः पुनर्मनुष्या अददुः।
राजानः सत्यं गृह्णाना ब्रह्मजायां पुनर्ददुः' ॥[४]

---

१. अवे० ६।१०८।३. २. ऋ. २।१२।१४. ३. अवे० ५।१७।९. ४. अवे० ५।१७।१०।

इस में देव और मनुष्य को पूर्ववर्णित विभाग के ब्राह्मण और वैश्य कहा जा सकता है। वहाँ राजन्य और वैश्य को ब्रह्मजाया का पति नहीं माना है, यहाँ उन्हें ब्रह्मजाया से सम्पन्न मान कर उस का दाता वर्णित किया है। इस प्रकरण में ब्राह्मणपद परमेश्वर के वाचक ब्राह्मणपद[१] से भिन्न है।

४७—अन्यत्र चार विभागों का उल्लेख है :—

(१) सुन्वत्, पचत्, शंसत् और शशमान

'यः सुन्वन्तमवति यः पचन्तं यः शंसन्तं यः शशमानमूती।'[२]

सुन्वत्—यज्ञनिष्पादक वैश्य है, पचत्—पुष्टिकर्त्ता शूद्र है। शंसत्—स्तोता ब्राह्मण है और शशमान को क्षत्रिय[३] कहा जा सकता है।

(२) उग्र, ब्रह्मन्, ऋषि और सुमेधा

'यं यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्।'[४] स्वभाव के कारण उग्र क्षत्रिय है,[४अ] ब्रह्मन् ब्राह्मण है। शतपथ ब्राह्मण[५] में तप के कारण ऋषि को ऋषि माना है। ऋग्वेद में भी ऋषियों को तपस्वी कहा है—'पूर्वे सप्त ऋषयस्तपसे ये निषेदुः।'[६] अग्नि तप से उग्र होती है।[७] ब्रह्मचारी भी तप करता है।[८] यजुर्वेद में शूद्र को[९] और कौलाल को[१०] तप से सम्बद्ध किया है। अतः ऋषि को शूद्र का द्योतक

---

१. अवे० १०।८।३७–३८। २. ऋ. २।१२।१४। ३. आगे मं० २०।५ की टिप्पणी देखें। ४. ऋ. १०।१२५।५। ४अ. 'उग्र' रुद्र का एक रूप है। श० ६।१।३।१८। रुद्र घोर है—कौ० १६।७। ५ श० ६।१।१।१। ६. ऋ. १०।१०९।४। ७. ऋ. १०।१०९।१ पर साभा० देखें। ८. अवे० ११।७।१। ९. य० ३०।५। १०. वही, मं० ७।

माना जा सकता है। योगदर्शन में तप को क्रियायोग[१], नियम[२] और अशुद्धियों को क्षीण कर के कायेन्द्रिय को शुद्ध करने वाला[३] कहा है। शेष सुमेधा वर्णों के नामों में 'वैश्य' का द्योतक हो जाता है।

(३) रध्र, कृश, नाधमान ब्रह्मन् कीरि और युक्तग्रावन् सुतसोम

'यो रध्रस्य चोदिता यः कृशस्य यो ब्रह्मणो नाधमानस्य कीरेः।
युक्तग्राव्णो योऽविता सुशिप्रः सुतसोमस्य स जनास इन्द्रः'॥[४]

आगे मन्त्र १२ में की गई व्याख्या के अनुसार ये पद क्रमशः क्षत्रिय, शूद्र, ब्राह्मण और वैश्य के द्योतक माने जा सकते हैं।

(४) ब्रह्म और राजन्य; शूद्र और आर्य

'प्रियं मा दर्भ कृणु ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्रायचार्याय च।
यस्मै च कामयामहे सर्वस्मै च विपश्यते'॥[५]

यहाँ पर शूद्र को आर्य से पहले वर्णित किया गया है। अथर्ववेद में 'अर्यः' पद अन्तोदात्त है, और 'आर्यः' पद आद्युदात्त। मन्त्र में 'चार्याय' में 'र्या' पर स्वरित है। अतः 'चार्याय' में 'च' और 'आर्याय' की सन्धि है। आर्य पद सामान्यतः आर्यजाति का और पहले लिखे वर्णन के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वश्य का द्योतक माना जाता है। ऐसी स्थिति में यहाँ दो विभागों १. ब्रह्म और राजन्य तथा २. शूद्र और आर्य को इकट्ठा वर्णित किया है। यदि ऐसा मान लें तो ये पद वर्णों के द्योतक न रह कर कर्म या शक्ति विशेषों के द्योतक बन जायेंगे।

---

१. योगदर्शन २।१। २. वही, २।३२। ३. वही, २।४३।
४. ऋ. २।१२।६। ५. अवे० १९।३२।८।

(५) ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य, शूद्र

'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥'[५अ]

यह मन्त्र यजुर्वेद और अथर्ववेद में भी आया है। चारों वर्णों का इस क्रम से उल्लेख केवल इसी मन्त्र में मिलता है। पीछे के काल में चातुर्वर्ण्य के लिए इसी मन्त्र को आधार बनाया गया है।

४८—पांच जनों–कृष्टियों–चर्षणियों का बहुधा वर्णन पाया जाता है। यथा 'अञ्जन्ति सुप्रयसं पञ्च जनाः';[१] 'यः पञ्च चर्षणीरभि निषसाद दमे दमे।'[२] स्तोता पंचकृष्टि के अन्तर्गत हैं—'अस्माकं द्युम्नमधि पञ्च कृष्टिषु।'[३] प्रार्थनायें पाँचों कृष्टियों के लिए की गयी हैं—'यद् वा पंच क्षितीनां द्युम्नमाभर।'[४] यहाँ पर उन में पारस्परिक भेद नहीं है। ये पंच जन कौन हैं, इस पर विद्वानों ने पर्याप्त विचार किया है। ऋग्वेद में एक स्थान पर इन्हें यदु, तुर्वश, द्रुह्यु, अनु, पुरु कहा है—'यदिन्द्राग्नी यदुषु तुर्वशेषु यद् द्रुह्युष्वनुषु पुरुषु स्थः।'[५] ऐतरेय ब्राह्मण[६] में ये देव, मनुष्य, गन्धर्वाप्सरस्, सर्प और पितृ, निरुक्त में[७] गन्धर्व, पितर, देव, असुर और राक्षस, औपमन्यव के[८] मत में चारों वर्ण और निषाद और पं० अखिलानन्द[९] के विचार में होता, अध्वर्यु, उद्गाता, ब्रह्मा और यजमान हैं। इनका परिगणन कुछ भी किया जाये वेद मन्त्रों में इन में ऊँच-नीच का कोई भेद नहीं है।

४९—यजुर्वेद में छै विभागों का भी उल्लेख है—

---

५ अ. ऋ. १०।९०।१२। १. ऋ. ६।११।४। २. ऋ. ७।१५।२। ३. ऋ. २।२।१०। ४. ऋ. ६।४६।७। ५ ऋ. १।१०८।८। ६. ऐ० ३।३१। ७. नि० ३।७। ८. वही। ९. वेदत्रयीसमालोचन, पृ० २०५।

ब्रह्म, राजन्य, शूद्र, अर्य (या आर्य ?), स्व और अरण

'यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः ।
ब्रह्मराजन्याभ्या ँ शूद्रायचार्याय च स्वाय चारणाय ।
प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह भूयासमयं मे कामः समृध्यतामुप
मादो नमतु ॥'[1]

यदि ऊपर लिखे विभागों पर सामूहिक रूप से दृष्टि डाली जाये तो यहाँ पर मानव जाति के तीन दृष्टियों से दो-दो विभाग स्पष्ट ज्ञात हो जायेंगे—१. ब्रह्मन् और राजन्य २. शूद्र और अर्य (या आर्य) ३. स्व और अरण (अपने और पराये)।

५०—वेदमन्त्रों में उपलब्ध मानव जाति के कतिपय विभागों का निर्देश किया जा चुका है। शूद्रों की स्थिति के निर्णय में अधोदत्त बातें विचारणीय हैं।

(१) वेद में मानव जाति के एक या अनेक विभाग विभिन्न दृष्टियों से किये गये हैं। यजुर्वेद के नीचे दिए गए मन्त्रों से इस प्रकार की कुछ दृष्टियों का आभास मिलता है :—

'एकयास्तुवत प्रजा अधीयन्त प्रजापतिरधिपतिरासीत् ।
तिसृभिरस्तुवत ब्रह्मासृज्यत ब्रह्मणस्पतिरधिपतिरासीत् ।
पञ्चभिरस्तुवत भूतान्यसृज्यन्त भूतानां पतिरधिपतिरासीत् ।
सप्तभिरस्तुवत सप्त ऋषयोऽसृज्यन्त धाताधिपतिरासीत् ॥
नवभिरस्तुवत पितरोऽसृज्यन्तादितिरधिपत्न्यासीत् ।
एकादशभिरस्तुवत ऋतवोऽसृज्यन्तार्त्तवा अधिपतय आसन् ।
त्रयोदशभिरस्तुवत मासा असृज्यन्त संवत्सरोऽधिपतिरासीत् ।
पञ्चदशभिरस्तुवत क्षत्रमसृज्यतेन्द्रोऽधिपतिरासीत् ।

---

१. य० २६।२।

सप्तदशभिरस्तुवत ग्राम्याः पशवोऽसृज्यन्त बृहस्पतिरधिपतिरासीत् ।।
नवदशभिरस्तुवत शूद्रार्यावसृज्येतामहोरात्रे अधिपत्नी आस्ताम् ।
एकविँ्शत्यास्तुवतैकशफाः पशवोऽसृज्यन्त वरुणोऽधिपतिरासीत् ।
त्रयोविँ्शत्यास्तुवत क्षुद्राः पशवोऽसृज्यन्त पूषाधिपतिरासीत् ।
पञ्चविँ्शत्यास्तुवताऽऽरण्याः पशवोऽसृजन्त वायुरधिपतिरासीत् ।
सप्तविँ्शत्यास्तुवत द्यावापृथिवी व्यैतां वसवो रुद्रा आदित्या अनुव्या-
यँस्त एवाधिपतय आसन् ।।
नवविँ्शत्यास्तुवत वनस्पतयोऽसृज्यन्त सोमोऽधिपतिरासीत् ।
एकत्रिँ्शतास्तुवत प्रजा असृज्यन्त यवाश्चायवाश्चाधिपतय आसन् ।
त्रयस्त्रिँ्शतास्तुवत भूतान्यशाम्यन् प्रजापतिः परमेष्ठ्यधिपति-
रासीत् ।।"[१]

इस वर्णन में ब्रह्म, ऋषि और क्षत्र की उत्पत्ति पृथक्-पृथक् बतायी है, परन्तु शूद्र और आर्य (अर्य) की एक साथ ।

(२) उपरोक्त वर्णनों में समस्त विभागों को एक स्तर पर रक्खा गया है, केवल दस्युओं को हिंसक बता कर उन्हें हीन माना गया है ।

(३) शूद्र को आर्य से पहले वर्णित किया गया है ।

(४) ऊपर दी गई व्याख्या के अनुसार ऋषि और शूद्र पद को समानार्थक माना जा सकता है । वैदिक साहित्य में ऋषि की स्थिति सुविदित है ।

(५) वेदमन्त्रों में चारों वर्णों का युगपत् आधुनिक क्रम से वर्णन

---

१ य० १४।२८—३१ । इन में मन्त्र ३० में 'शूद्रार्यौ' में 'राजदन्तादिषु परम्' (पा० २।२।३१) से शूद्र का पूर्वनिपात माना गया है। परन्तु राजदन्तादिगण में 'शूद्रार्यम्' पाठ है, 'शूद्रार्यौ' नहीं है । अपि च । वेद मन्त्रों में अधिकांश स्थलों पर समास के अभाव में शूद्र और आर्य का क्रम ही मिलता है। अतः यहाँ राजदन्तादि सूत्र लगाना अनावश्यक है ।

(११) ऊपर दासों को आर्यों का समकक्ष बताया है। 'यथावश नयति दासमार्यः'[१] में यथावशम् का अर्थ 'वशमिव' करने पर 'इन्द्र दासों का नेतृत्व करता है' भाव निकलता है। ऋग्वेद में दास नमुचि पद[२] एक शाश्वतिक दृश्य का द्योतक है, दासों के नीचत्व का द्योतक नहीं है।

(१२) अथर्ववेद के 'शूद्रामिच्छ प्रफर्व्यम्'[३] में शूद्रा पद किसी स्थान विशेष का नाम प्रतीत होता है, जातिविशेष का नाम नहीं है, क्योंकि इस का प्रयोग मूजवत और बाल्हीकान् के साथ हुआ है।

(१३) ऋग्वेद के पुनरुक्त अंशों में 'वर्णं शुक्रम्'[४] के लिए 'आर्यं वर्णम्'[५] का प्रयोग हुआ है। 'वधेन दस्युं प्र हि चातयस्व वयः. कृण्वानस्तन्वे स्वायै'[६] की पुष्टि में 'आर्यं वर्णम्' का अर्थ 'आरोग्य और स्वास्थ्य' भी समझा जा सकता है।

(१४) छान्दोग्य उपनिषद् में[७] श्रद्धादेय, बहुदायी, बहुपाक्य और आवसथ निर्मापक जानश्रुति पौत्रायण को शूद्र कहा गया है। स्वामी शंकराचार्य का समाधान सन्तोषजनक नहीं। वहाँ पर श्रेष्ठ और विद्या के लिए इच्छा प्रकट करने के कारण ही राजा को शूद्र कहा गया है।

(१५) महाभाष्यकार के लेखानुसार[८] तप करने से विश्वामित्र ऋषि हो गये। उन के तप से ही उन के पिता और पितामह भी ऋषि हो गये। पुत्र या पौत्र के तप से पिता या दादा का ऋषि मन्त्रार्थद्रष्टा होना बुद्धिगम्य नहीं, ऋषि-श्रेष्ठ—शूद्र होना बुद्धिगम्य है।

(१६) यजुर्वेद के पुरुषमेध में अपने-अपने कर्मों के अनुरूप ही मनुष्यों

---

१. ऋ. ५।३४।६। २. ऋ. ५।३०।७—८। ३. अवे० ५।२२।७. ४. ऋ. ३।३४।५. ५. ऋ. ३।३४।९। ६. ऋ. ५।४।६। ७. छा-उ० ४।२।३; ५। ८. वेदत्रयीसमालोचन, पृ० २२७ पर पा० ४।१।१०४—अनृष्यानन्तर्ये विदादिभ्योऽञ् पर पतञ्जलि मुनि का लेख देखें।

को विभिन्न गुणों और शक्तियों आदि से सम्बद्ध किया गया है। वहाँ ब्राह्मण को ब्रह्म से, राजन्य को क्षत्र से, वैश्य को मरुतों से और शूद्र तथा कौलाल को तप से सम्बद्ध किया है।[१] मनु ने[२] समस्त वर्णों का तप पृथक्-पृथक् बताया है। उस में शूद्र का तप सेवा बताया है। पूर्वोक्त वैदिक वर्णनों से इस की पुष्टि नहीं होती है। अतः शूद्र के तप से सम्बन्ध के कारण 'पद्भ्यां शूद्रो अजायत'[३] में पद्भ्याम्' का अर्थ 'तप, श्रम' करना युक्ति-संगत मालूम पड़ता है। शतपथ ब्राह्मण ने[४] पादः' को प्रतिष्ठा कहा भी है। षड्विंश ब्राह्मण[५] ने पादौ को अनुष्टुप् कहा है। अनुस्तोभन, मित्र की पत्नी, गायत्री, वाक्, ज्यैष्ठच, पृथिवी, प्रजापति, राजन्य, अश्व, आपः, सत्यानृत आदि को अनुष्टुप् कहा गया है।[६] पृथिवी शूद्रवर्ण है क्यों कि वह पूषा है।[७] अतः 'पद्भ्याम्' पोषक भाव का भी द्योतक माना जा सकता है।

(१७) शतपथ ब्राह्मण में तप को शूद्र कहा है—'तपो वै शूद्रः।[८]

(१८) ऋग्वेद में अग्नि और विश्वे देवाः को द्विजन्मा या द्विज कहा है, ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य को नहीं।[९]

(१९) मनु ने द्विजों के तीन जन्म माने हैं—माता से, उपनयन से

---

१. य० ३०।५; ७। २. मनु ११।२३५। ३. ऋ० १०।९०।१२। आगे मंसं० ३३।४ की टिप्पणी भी देखें। ४. श० १३।८।३८। ५. षड्विंश ब्राह्मण, २।३। ६. देखो वैकों० पृ० २५—२६। ७. श० १४।४।२।२५। ८. श० १३।६।२।१०. ९. देखो ऋ. १।६०।९; १४०।२; १४९।४—५; ६।५०।२; १०।६१।१९। यहाँ पर सा० ने द्विजाः को पृथक् मान कर विप्र अर्थ किया है : ...ायणीय योजना में भी वर्णभाव नहीं आता। ऋ. ३।२७।८ में विप्र को यज्ञ का साधन और ऋ. ८।६।२८ में धी (कर्म,बुद्धि) से उत्पन्न बताया है। ऋषि भी विप्र हैं। अतः इस अर्थ में द्विजपद मानव मात्र का द्योतक है।

(२५) 'कर्मोपकरणाः शूद्राः कारवः शिल्पिनस्तथा'[१] कह कर मनुस्मृति ने शूद्र आदि को करमुक्त किया है। वेद में कारु और तक्षा आदि शिल्पियों का बड़ा सम्मान है। वृबु तक्षा वहाँ एक ऋषि है, ऋभवः और त्वष्टा देवता हैं।[२] अतः इन को उन की श्रेष्ठता, कलाकौशल और यज्ञमय जीवन के लिए करों से मुक्त किया गया होगा।

(२६) कभी-कभी ब्राह्मण भी शूद्रों की सेवा करते थे। परन्तु उन्हें इस सेवा के कारण पतित माना जाता था।[३] आपत्काल में वैश्य भी शूद्रवृत्ति कर सकता था।[४]

(२७) शूद्र की हत्या करने पर मनुस्मृति ने प्रायश्चित्त का विधान किया है।[५]

(२८) अमरकोष में आभीरी को महाशूद्री कहा है।[६] मनु के मत में ब्राह्मण से अम्बष्ठ कन्या में उत्पन्न स्त्री आभीरी होती है।[७] बीज की प्रधानता के कारण आभीरी ब्राह्मणी ही है। उसे महाशूद्री कहना प्राचीन इतिहास का अवशेष है।

(२९) अत्रिस्मृति में विप्रों के दस प्रकार बताये हैं जिन में शूद्र विप्र भी हैं :—

'देवो मुनिर्द्विजो राजा वैश्यः शूद्रो निषादकः ।
पशुर्म्लेच्छोऽपि चाण्डालो दशविधाः स्मृताः ॥'[८]

इस में वदिक और पीछे के काल के मानव जाति के भागों को एकत्र कर दिया गया है।

---

१. मनु० १०।१२०। २. देखो ऋषियों और देवताओं की अनुक्रमणिकाएँ। ३. मनु० ११।६९। ४. मनु० १०।९८। ५. मनु० ११।१३०; १३१; १४०। ६. अको० २।६।१३। ७. मनु० १०।१५। ८. स्मृति संदर्भ, भाग १, पृ० ३८६।

(३०) डा. अम्बेदकर ने लिखा है कि महाभारत के हस्तलेखों में से छै में पैजवन सुदास को 'शुद्रः', एक में शूद्रः के स्थान पर 'शुद्धः' कहा गया है। दो में 'शूद्रः-शुद्धः' के स्थान पर 'पुरा' का पाठ है।[१] शूद्रः' के स्थान पर 'शुद्धः' का प्रयोग इन दोनों को समानार्थक बता रहा है।[१अ] पुराणों में और ऐतिहासिकों की दृष्टि में ऋग्वेद में पैजवन सुदास क्षत्रिय है। अतः क्षत्रिय शुद्ध-शूद्र सिद्ध होते हैं।

(३१) यजुर्वेद में ब्राह्मण आदि के साथ शूद्रों में भी रुच के आधान की प्रार्थना की गयी है।[१आ]

(३२) सर एम. मोनियर विलियम्ज़ के कोष में संगृहीत शूद्रविषयक अधोदत्त पदों में गूढ़ इतिहास लक्षित होता है—शूद्रप्रिय (प्याज़), शूद्रभिक्षित (शूद्र से प्राप्त भिक्षा), शूद्रयाजक, शूद्रप्रायश्चित्त, शूद्रशासन, शूद्रसंस्कार और शूद्रीभू।[२] उन्हों ने शूद्रों से सम्बन्धित अधोदत्त १९ पुस्तकों का भी नाम दिया है। इन के अध्ययन से भी शूद्रों की स्थिति पर प्रकाश मिलने की सम्भावना है :—१. शूद्रकमलाकर २. शूद्रकुलदीपक ३. शूद्रकृत्य ४. शूद्रविचारण ५. शूद्रविचारणतत्त्व ६. शूद्रविचारतत्त्व ७. शूद्रजपविधान ८. शूद्रतत्त्व ९. शूद्रबोधिनी १०. शूद्रपंचसंस्कारविधि ११. शूद्रपद्धति १२. शूद्रविवेक १३. शूद्रस्मृति १४. शूद्रचिन्तामणि १५. शूद्रशिरोमणि १६. शूद्राह्निक १७. शूद्राह्निकाचार तत्त्व १८. शूद्रोत्पत्ति १९. शूद्रोद्योत।[३] इन में से कुछ तो आपाततः ही नितान्त अर्वाचीन प्रतीत होती हैं। शूद्रप्रेष्य—शूद्र के सेवक ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य से भी शूद्रों के सर्वोपरि भाव का परिचय मिलता है।

---

१. डा. अम्बेदकर, हू वर दी शूद्राज़, पृ० १२१। १अ. इस प्रकार अर्थ-ग्रहण की शैली को विद्वानों न अनेक बार ग्रहण किया है। वैदिक रीडर में ऋ. १।१५४।३ पर मै० की टिप्पणियाँ देखें। वेभाप० ४ भी देखें। १आ. य० १८।४८। २. विको० पृ० १०८५। ३. वही।

(३) इसे 'श्वयति गच्छति वर्धते' से भी लिया जा सकता है। ऋग्वेद के 'महसा शूक्रतस्य'[१] और यजुर्वेद के शूकार (=क्षिप्रकारी) और शूकृत (=क्षिप्रकृत)[२] में भी यही भाव है। यद्यपि यहाँ 'शूद्र' पद का कोई आभास नहीं मिलता तो भी अर्थ और रूप में शूद्र की शूकृत से समानता के आधार पर शूद्र को शूकृत का रूप माना जा सकता है।

(३९) व्याकरण में शूद्रीपद शूद्रपत्नी का और शूद्रापद शूद्रजाति की स्त्री का द्योतक हैं। हो सकता है 'आचार्या' पद के समान यह पद उस काल में शूद्रगुणयुक्त=पोषक, परोपकारपरायण स्त्री को कहता हो।

(४०) वृषल पद शूद्र का ही वाचक नहीं है, घोड़ा और गाजर का भी द्योतक है और वृषली पद केवल शूद्रा या शूद्री का द्योतक नहीं, प्रत्युत अविवाहित रजस्वला कन्या, रजस्वला, बाँझ, मृतसन्तान उत्पन्न करने वाली स्त्री भी वृषली है। ऐसी कन्या और स्त्रियाँ सभी वर्णों में होती हैं, शूद्रों में ही नहीं।[३] मौर्यों को बौद्ध साहित्य में क्षत्रिय कहा है, परन्तु पुराणों आदि हिन्दू साहित्य में वृषल और शूद्र।[३अ] ये पद उन के श्रेष्ठत्व के कारण उन्हें मिले होंगे जिन को कालान्तर में आधुनिक अर्थों में समझा जाने लगा।

(४१) लोक में महतर (=महत्+तर) और चूहड़ा (चतुर्धुरीण=चौधड़=चौहड़) पद भी इन के प्राचीन काल में उच्च स्तर के द्योतक हैं।

(४२) ऋग्वेद में विप्रों में ऋषि को सर्वश्रेष्ठ माना है :—

'ब्रह्मा देवानां पदवीः कवीनाम् ऋषिर्विप्राणां महिषो मृगाणाम्।

---

१. ऋ. १।१६२।१७। २. य० २२।८; २५।४०। ३. अको० और अन्य कोषों में इन पदों के अर्थ देखें। ३.अ. देखो डा० हेमचन्द्र राय चौधरी, पोलिटिकल हिस्ट्री आफ एन्शियेराण्ट इण्डिया, चतुर्थ संस्करण (१९३८), पृ० २९४–२९६।

श्येनो गृध्राणां स्वधितिर्वनानां सोमः पवित्रमत्येति रेभन् ॥"[1]
मानवमात्र विप्र हैं और ऋषि शूद्र ।

(४३) वसिष्ठ धर्मसूत्र के मत में ऋचाओं के ज्ञान से हीन व्यक्ति शूद्रों का स्वामी नहीं हो सकता है ।[2]

५९—उपरोक्त विवेचन से ये परिणाम निकलते हैं :—

(१) आरम्भ में आधुनिक रूप में वर्ण-व्यवस्था की कोई कल्पना नहीं थी ।

(२) वैदिक काल में गुण और कर्म का प्राधान्य था । जैसा गुण और कर्म जिस व्यक्ति में देखा वैसा ही उस का नाम हो जाता था ।

(३) समाज में परोपकार, ज्ञान, श्रम, तप, गतिशीलता आदि गुणों को बहुत महत्त्व दिया गया था । इन गुणों से युक्त व्यक्ति को ऋषि और शूद्र कहते थे । ऋषि सब में श्रेष्ठ थे । अतः शूद्र सब में श्रेष्ठ थे । ऋषि सब वर्णों से निकलते थे । इस लिए उन का—शूद्रों का पृथक् वर्ण नहीं था ।

(४) इसी कारण शूद्रों का पृथक् यज्ञोपवीत संस्कार नहीं बताया गया है । जिस प्रकार त्रयी से चारों वेदों का अवबोध होता है, उसी प्रकार द्विज, आर्य और तीनों वर्णों के कथन में शूद्र वर्ण का भी अन्तर्भाव हो जाता है ।

(५) कालान्तर में ब्राह्मणों का और इतरवर्णों के शूद्रों का संघर्ष चला जिस में ब्राह्मण अपनी एकता और समाज में बौद्धिक कार्य के सम्पादक होने के कारण विजयी हुए और अन्य वर्णों के शूद्र पददलित हुए । जहाँ कहीं मिल सके वहाँ उन की गोत्रपरम्परा इस विषय में पर्याप्त प्रकाश डालने वाली होगी ।

---

१. ऋ. ९।९६।६। २. वसिष्ठधर्मसूत्र ३।३। वेभाप० १।१३ ।

अथ

पारस्करगृह्यसूत्रे

उपनयनसूत्राणि

(द्वितीयकाण्डे कण्डिकाः ३—७)

१-अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयेद् गर्भाष्टमे वा ॥१॥
२-एकादशवर्षँ राजन्यम् ॥२॥
३-द्वादशवर्षं वैश्यम् ॥३॥
४-यथामङ्गलं वा सर्वेषाम् ॥४॥

पारस्करगृह्यसूत्र के उपनयन सम्बन्धी सूत्रों का शाब्दिक हिन्दी अनुवाद

(काण्ड २, कण्डिका ३—७)

१—ब्राह्मण बनने के योग्य और इच्छुक (बालक) को आठ वर्ष के को अथवा (उस के) गर्भ (में आने के दिन से) आठवें (वर्ष) में (आचार्य के पास) लाए (अर्थात्—उस का यज्ञोपवीत संस्कार कराए) ।

२—क्षत्रिय बनने के योग्य और इच्छुक (बालक) का ग्यारह वर्ष के का (यज्ञोपवीत संस्कार कराए) ।

३—वैश्य बनने के योग्य और इच्छुक (बालक) का बारह वर्ष के का (यज्ञोपवीत संस्कार कराए) ।

४—अथवा सब का शुभ परिस्थितियों में (उपनयन कराया जा सकता है) ।

५-ब्राह्मणान् भोजयेत् ।

६-तं च पर्युप्तशिरसमलंकृतमानयन्ति ॥५॥

७-पश्चादग्नेरवस्थाप्य ब्रह्मचर्यमागामिति वाचयति—
ब्रह्मचार्यसानीति च ॥६॥

८-अथैनं वासः परिधापयति—

९-येनेन्द्राय बृहस्पतिर्वासः पर्यदधादमृतम् ।
तेन त्वा परिदधाम्यायुषे दीर्घायुत्वाय बलाय वर्चस इति ॥७॥

५—(उस अवसर पर गुरुकुलस्थ आचार्य आदि) ब्राह्मण (वृत्ति के लोगों) को भोजन कराए ।

६—और (अब) उस (ब्रह्मचारी) को सिर मुँडवा कर और आभूषण पहना कर (शब्दार्थ—मुण्डे हुए शिर वाले और सजे हुए को) (यज्ञवेदी पर) लाते हैं ।

७—अग्नि के पश्चिम में (आचार्य के दाहिनी ओर पूर्व को मुख कर के) बिठा कर (आचार्य उस से) कहलाता है—'(मैं) ब्रह्मचर्य व्रत को प्राप्त हुआ हूँ' तथा '(मैं) ब्रह्मचारी हो जाऊँ ।'

८—अब (आचार्य) उस (ब्रह्मचारी) को वस्त्र पहनवाता है—

९—(बृहस्पतिः) वेदवाणी के अधिकृत विद्वान् आचार्य [पूर्व काल से] (इन्द्राय) परम तेजस्वी बलवान् ब्रह्मचारियों को (येन) जिस प्रकार (अमृतम्) वेद और उस की अध्यात्म-विद्या के अध्ययन के लिए नियत (वासः) वस्त्र (पर्यदधात्) धारण कराते आए हैं (तेन) उसी प्रकार (आयुषे) प्राण-शक्ति (आयुत्वाय) [यज्ञमय] दीर्घ जीवन (बलाय) बल [और] (वर्चसे) ब्रह्मतेज [की प्राप्ति] के लिए (त्वा) तुम्हें [इस व्रत के लिए नियत वस्त्र] (परिदधामि) धारण कराता हूँ ।

१०-मेखलां बध्नीते ।

११-इयं दुरुक्तं परिबाधमाना
वर्णं पवित्रं पुनती म आगात् ।
प्राणापानाभ्यां बलमादधाना
स्वसा देवी सुभगा मेखलेयमिति ॥८॥

१२-युवा सुवासाः परिवीत आगात्
स उ श्रेयान् भवति जायमानः ।
तं धीरासः कवय उन्नयन्ति
स्वाध्यो मनसा देवयन्तः ॥
इति वा ॥९॥

१०—(अब आचार्य के कहने पर ब्रह्मचारी इन मन्त्रों को पढ़ कर) मेखला (= तगड़ी) बाँधता है ।—

११—[दुरुक्तम्] (मेरे) दुष्ट वचनों को [परिबाधमाना] नष्ट करती हुई (और) [मे] मेरे [पवित्रम्] पावन [वर्णम्] (ब्रह्मचर्यव्रत पालन रूपी) यश को [पुनती] पवित्र करती हुई, [प्राणापानाभ्याम्] प्राण और अपान (के नियमन) द्वारा [बलम्] बल [आदधाना] देती हुई [स्वसा] (शैथिल्य को) दूर भगाने वाली (अथवा-बहन के सदृश) [देवी] द्योतनशील (= चमकती हुई) [सुभगा] सुन्दर ऐश्वर्य या कर्मफल (= भाग्य) (देने) वाली [इयम्] यह [मेखला] तगड़ी (आज से मुझे) [आगात्] प्राप्त हो गई है ।

१२—[इति वा] अथवा इस (मन्त्र) को (पढ़े)-[सुवासाः]

१३-तूष्णीं वा ॥१०॥

१४-×अत्र यज्ञोपवीतपरिधानम्—

१५-[यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं
प्रजापतेर्यत् सहजं पुरस्तात् ।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं
यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः ॥
यज्ञोपवीतमसि यज्ञस्य त्वा यज्ञोपवीतेनोपनह्यामि ॥इति॥

सुन्दर वस्त्र धारण किए हुए [परिवीतः] (विद्याप्राप्ति की भावना से) भरा हुआ (या—आचार्य से संगत हुआ) [युवा] नया ब्रह्मचारी [आगात्] (ब्रह्मचर्य व्रत के पालन के लिए गुरु के पास) आया है । [उ] निःसन्देह [स] वह [जायमानः] (आचार्य से तीन रातों में तप से) उत्पन्न होता हुआ [श्रेयान्] श्रेय (के ज्ञान का अधिकारी) (शब्दार्थ—श्रेष्ठ) [भवति] होता है । [धीरासः] गम्भीर बुद्धिमान् [स्वाध्यः] सुन्दर विद्याओं का आधान करने वाले [मनसा] मन में [देवयन्त.] (ब्रह्मचारी को) वेदार्थवेत्ता विद्वान् बनाने की इच्छा करते हुए [कवयः] विद्वान् आचार्य (उस को) [उन्नयन्ति] (सद्गुणयुक्त शिक्षा प्रदान आदि द्वारा) उन्नत करते हैं ।

१३—अथवा चुप-चाप (=मौन हो कर बिना मन्त्र बोले ही) (मेखला बाँधे) ।

१४—यहाँ यज्ञोपवीत पहना जाता है—

१५—[यत्] जो [पुरस्तात्] पहले [प्रजापतेः] यज्ञ के [सहजम्] साथ उत्पन्न हुआ [परमम्] परमात्मा (के ज्ञान

१६-अथाजिनं प्रयच्छति ।

१७-मित्रस्य चक्षुर्द्धरुणं बलीयस्तेजो
यशस्वि स्थविरँ समिद्धम् ।
अनाहनस्यं वसनं जरिष्णु परीदं
वाज्यजिनं दधेऽहमिति ॥]

१८-दण्डं प्रयच्छति ॥११॥

के अधिकारी होने) का परिचायक अथवा परम [पवित्रम्] पावन [यज्ञोपवीतम्] (ब्रह्मचर्यव्रत रूप) यज्ञ का ज्ञापक (जनेऊ) [अग्र्यम्] अत्युत्तम [आयुष्यम्] आयु [प्रतिमुञ्च] प्रदान करे । (यह) [शुभ्रम्]- सफेद रङ्ग का [यज्ञोपवीतम्] जनेऊ [बलम्, तेजः] बल और तेज [अस्तु] देने वाला हो ॥ [यज्ञस्य] (तुम) यज्ञ के [यज्ञोपवीतम्] जनेऊ [असि] हो । (मैं) [त्वा] तुम को [यज्ञोपवीतेन] जनेऊ [उपनह्यामि] पहनाता हूँ ॥

१६—अब (आचार्य ब्रह्मचारी को) काले मृग का चर्म देता है ।

१७—[मित्रस्य] मित्र (—दुःख से बचाने वाले) की [चक्षुः] आँख के सदृश, [धरुणम्] धारक, [बलीयः] दृढ़, [तेजः] तेजस्वी [यशस्वि] (और) यशस्वी [स्थविरम्] पुरानी, [समिद्धम्] चमकीली (=साफ-सुथरी), [अनाहनस्यम्] पवित्र (करने वाली), [जरिष्णु] चिरकाल में फटने वाली (अर्थात्—पक्की) [इदम्] इस [वाजि] ज्ञान और शक्ति की प्रतीक [अजिनम्] काले मृग की खाल (रूप) [वसनम्] वस्त्र को [अहम्] मैं (तुम्हें) [परिदधे] पहनाता हूँ ।

१८—(अब आचार्य ब्रह्मचारी को) डण्डा देता है ।

१६-तं प्रतिगृह्णाति ।

२०-यो मे दण्डः परापतद्वैहायसोऽधि भूम्याम् ।

तमहं पुनराददे आयुषे ब्रह्मणे ब्रह्मवर्चसायेति ॥१२॥

२१-दीक्षावदेके दीर्घसत्रमुपैतीति[1] वचनात् ॥१३॥

२२-अथास्याद्भिरञ्जलिनाऽञ्जलिं पूरयति –

१६—(ब्रह्मचारी) उस डण्डे को ग्रहण करता है।

२०—[यः] (यह) जो [मे] मेरे [परापतत्] सामने आया हुआ है, [भूम्याम् अधि] सब पदार्थों आदि के मध्य [वैहायसः] निरन्तर गति करने वाला, [दण्डः] (अनुशासन करने वाला) डण्डा (है), [तम्] उस को [अहम्] मैं (ब्रह्मचारी) [आयुषे] (प्रगतिशील) जीवन, [ब्रह्मणे] वेदाध्ययन (और) [ब्रह्मवर्चसे] ब्रह्मतेज (की प्राप्ति) के लिए [पुनः] (अपने से) पहले के (ब्रह्मचारियों के) समान [आ ददे] धारण करता हूँ।

२१—(दीर्घ काल तक चलने वाले ब्रह्मचर्य व्रत में दीक्षा लेने वाला बालक) लम्बे सोमसत्र में (दीक्षा) लेता है ऐसा (शास्त्र का) वचन होने के कारण कुछ (आचार्य सोमसत्र की) दीक्षा (में दण्डग्रहण) के समान (यहाँ भी 'उच्छ्रयस्व वनस्पते' इत्यादि मन्त्र से दण्डधारण मानते हैं) ॥

२२—अब जल से (भरी हुई अपनी) अञ्जलि से (पानी छोड़ कर) उस (ब्रह्मचारी) की अञ्जलि को (जल से) भरता है।

१—एतत्सूत्रे कात्यायनश्रौतसूत्रपठितो मन्त्रः—'उच्छ्रयस्व वनस्पत ऊर्ध्वो मा पाह्यँ्हस आस्य यज्ञस्योदृचः' अभिप्रेतः।

२३-आपो हि ष्ठेति तिसृभिः ॥१४॥

२४-अथैनँ सूर्यमुदीक्षयति—

२५ तच्चक्षुरिति ॥१५॥

२६-अथास्य दक्षिणाँ † समधिहृदयमालभते–

२७-मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनु चित्तं ते अस्तु। मम वाचमेकमना जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम् ॥ इति ॥१६॥

२३—(आचार्य बालक की अञ्जलि को) 'आपो हि ष्ठा' आदि तीन (मन्त्रों) से (भरता है)।

२४—अब उस (ब्रह्मचारी) को सूर्य का दर्शन कराता है।

२५—(आचार्य की प्रेरणा पर ब्रह्मचारी) 'तच्चक्षुः' आदि (मन्त्र) को बोलता हुआ सूर्य को देखता है।

२६—अब (आचार्य) उस (बालक) के दाहिने कन्धे और हृदय को छूता है।

२७—[मम] अपने (=आचार्य के) [व्रते] अनुशासन में [ते] तुम्हारे [हृदयम्] हृदय को [दधामि] व्यापृत करता हूँ।

१—आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे ॥१॥
यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः। उशतीरिव मातरः ॥२॥
तस्मा अरङ्गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ।
आपो जनयथा च नः ॥ ३ ॥

२—तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥

२८ अथास्य[1] दक्षिणं हस्तं गृहीत्वाऽऽह—को नामासीति ॥१७॥

२९-असावहं भो३इति प्रत्याह ॥१८॥

३०-अथैनमाह[2]—कस्य ब्रह्मचार्यसीति ॥१९॥

३१-भवत इत्युच्यमान इन्द्रस्य ब्रह्मचार्यस्यग्निराचार्यस्तवाहमाचार्यस्तवासाविति ॥२०॥

[ते] तुम्हारा [चित्तम्] ज्ञान [मम] मेरे [चित्तम्] ज्ञान [अनु] के समान [अस्तु] हो। [मम] मेरी [वाचम्] वाणी को [एकमनाः] एकाग्र मन से [जुषस्व] सुना करना। [बृहस्पतिः] वेदाधिपति परमात्मा [त्वा] तुम्हें [मह्यम्] मेरे लिए (अर्थात्—मेरे से शिक्षा प्राप्त करने के लिए) [नियुनक्तु] नियुक्त करते रहें।

८—अब उस के सीधे हाथ को पकड़ कर (आचार्य) कहता है—तुम्हारा क्या नाम है [श० तुम किस (सुखद) नाम वाले हो]।

२९—वह (बालक) उत्तर देता है—हे (श्रीमन्) यह मैं—हूँ।

३०—अब (आचार्य) उस से पूछता है—[कस्य] तुम (सुखदायक) किस के ब्रह्मचारी हो।

३१—'आप का' यह कहे जाने पर (आचार्य कहे कि) तुम [इन्द्र] परमैश्वर्यशाली और शक्तिमान् परमेश्वर के ब्रह्मचारी हो। [अग्निः] अज्ञान और पाप आदि को अग्नि के समान जला देने वाला परमेश्वर या वेदज्ञान तुम्हारा आचार्य है। वह मैं भी तुम्हारा आचार्य हूँ।

१—अथास्य। २—अथै०

३२-अथैनं भूतेभ्यः परिददाति-

३३-प्रजापतये त्वा परिददामि देवाय त्वा सवित्रे परिददाम्यद्भ्यस्त्वौषधीभ्यः परिददामि द्यावापृथिवीभ्यां त्वा परिददामि विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः परिददामि सर्वेभ्यस्त्वा भूतेभ्यः परिददाम्यरिष्ट्या इति ॥२१॥२।३॥

३२—अब उस (ब्रह्मचारी) को [भूतेभ्यः] समस्त उत्पन्न पदार्थों से (उचित उपयोग लेने के लिए) कहता है (शब्दार्थ—देता है)।

३३—[अरिष्ट्यै] सुरक्षा के लिए (मैं) [त्वा] तुम्हें [प्रजापतये] प्राणियों के रक्षक परमात्मा को [परिददामि] समर्पित करता हूँ। [देवाय] दीप्तिमान् [सवित्रे] सकल जगत् के उत्पादक परमेश्वर को [त्वा] तुम्हें [परिददामि] समर्पित करता हूँ। (मैं तुम्हें) [अद्भ्यः] जलों को (और) [ओषधीभ्यः] ओषधियों को [परिददामि] देता हूँ। (मैं) [त्वा] तुम्हें [द्यावापृथिवीभ्याम्] द्युलोक और पृथिवी लोक (अथवा प्राण और उदान) को [परिददामि] देता हूँ। (मैं तुम्हें) [विश्वेभ्यः देवेभ्यः] सम्पूर्ण तेजस्वी पदार्थों को [परिददामि] सौंपता हूँ। [त्वा] तुम को [सर्वेभ्यः] सम्पूर्ण [देवेभ्यः] (वसु, रुद्र, और आदित्य आदि) दिव्य पदार्थों (या विद्वानों) को [परिददामि] देता हूँ, (और) [त्वा] तुम को [सर्वेभ्यः] समस्त [भूतेभ्यः] भूतों (पृथिवी, अपस्, तेजः, वायु और आकाश रूप या प्राणीमात्र) को [परिददामि] देता हूँ।

३४-प्रदक्षिणमग्निं परीत्योपविशति ॥१॥

३५-अन्वारब्ध आज्याहुतीर्हुत्वा प्राशनान्तेऽथैनँ ᳡सँ ᳡शास्ति।

३६-ब्रह्मचार्यसि ।

३७-अपोऽशान ।

३८-कर्म कुरु ।

३९-मा दिवा सुषुप्था ।

४०-वाचं यच्छ ।

४१-समिधमाधेहि ।

४२-अपोऽशान ॥इति॥२॥

३४—अग्नि की प्रदक्षिणा कर के (आचार्य के बाईं ओर) बैठता है।

३५—पुनः (यज्ञ के) आरम्भ होने पर घृत की (१४) आहुतियाँ दे कर, (यज्ञशेष के) खा लेने पर अब उस (ब्रह्मचारी) को शिक्षा देता है—

३६—(अब) तुम ब्रह्मचारी हो।

३७—(सब कर्मों अथवा—सन्ध्योपासन और भोजन के आरम्भ में) पानी पिया करो (अर्थात्—आचमन किया करो)।

३८—(सदा) काम करते रहना।

३९—दिन में न सोना।

४०—(पूछे जाने पर) उत्तर देना।

४१—समिधाओं से यज्ञ किया करो (शब्दार्थ—समिधा को आग में रक्खा कर।)

४२—(अब फिर यज्ञ आदि कर्मों की समाप्ति पर) आचमन किया करो।

४३-अथास्मै सावित्रीमन्वाहोत्तरतोऽग्नेः प्रत्यङ्मुखायोप-
विष्टायोपसन्नाय समीक्षमाणाय समीक्षिताय ॥३॥

४४-दक्षिणतस्तिष्ठत आसीनाय वैके ॥४॥

४५-पच्छोऽर्द्धर्चशः सर्वां च तृतीयेन सहानुवर्तयन् ॥५॥

४६-संवत्सरे *षाण्मास्ये चतुर्विंशत्यहे द्वादशाहे
षडहे त्र्यहे वा ॥६॥

४७-सद्यस्त्वेव गायत्रीं ब्राह्मणायानुब्रूयादाग्नेयो वै ब्राह्मण
इति श्रुतेः ॥७॥

४३—अब अग्नि के उत्तर की ओर, पश्चिम की ओर मुख वाले, बैठे हुए, (प्रणाम और श्रद्धाभाव से शिक्षा प्राप्त करने के लिए) उपस्थित हुए, (गुरु को शान्त चित्त से) देखते हुए और (गुरु द्वारा शान्त चित्त) निश्चित किए गए इस (ब्रह्मचारी) को गायत्री का उपदेश करे।

४४—कुछ (आचार्य कहते हैं) कि (अग्नि के) दक्षिण की ओर खड़े हुए या बैठे हुए को (गायत्री का उपदेश करे)।

४५—(पहले) एक-एक पाद को, (फिर) आधी-आधी ऋचा को और तीसरी बार सम्पूर्ण मन्त्र को (ब्रह्मचारी के) साथ-साथ पढ़ता हुआ (आचार्य उपदेश करे)।

४६—(इस गायत्री पाठ को) एक वर्ष में (या) छै मास में, (या) चौबीस दिन में (या) बारह दिन में, (या) छै दिन में अथवा तीन दिन में (पूरा कराए)।

४७—निःसन्देह ब्राह्मण अग्निपुत्र होता है—इस श्रुति के कारण ब्राह्मण बनने के इच्छुक और योग्य (ब्रह्मचारी) को तो गायत्री तुरन्त ही सिखा सकता है।

४८-त्रिष्टुभं * राजन्यस्य ॥८॥

४९-जगतीं वैश्यस्य ॥९॥

५०-सर्वेषां वा गायत्रीम् ॥१०॥३।४॥

५१-अत्र समिदाधानम् ॥१॥

५२-पाणिनाऽग्नि परिसमूहति—

५३-अग्ने सुश्रवः सुश्रवसं मा कुरु ।
यथा त्वमग्ने सुश्रवः सुश्रवा अस्येवं मां † सुश्रवः सौश्रवसं कुरु ।
यथा त्वमग्ने देवानां यज्ञस्य निधिपा अस्येवमहं मनुष्याणां वेदस्य निधिपो भूयासमिति ॥२॥

४८—क्षत्रिय को त्रिष्टुभ् (छन्द वाली) (सावित्री ऋचा (सिखाए) ।

४९—वैश्य को जगती (छन्द वाली सावित्री ऋचा सिखाएं) ।

५०—अथवा सब को गायत्री (छन्द वाली ऋचा सिखाए) ।

५१—(अब ब्रह्मचारी) यहाँ (अग्नि) में समिधाओं का प्रक्षेप (करे) ।

५२—(ब्रह्मचारी) हाथ से आग को (इकट्ठा कर के) तेज करे ।

५३—[सुश्रवः] हे शोभन यश वाले [अग्ने] परमात्मन्, [मा] मुझे [सुश्रवसम्] शुभ्र यश वाला [कुरु] बना दो । [सुश्रवः] हे उत्तम कीर्ति वाले [अग्ने] परमेश्वर [यथा] जिस प्रकार [त्वम्] आप [सुश्रवाः] परम विश्रुत हैं, [सुश्रवः] हे यशस्वी [माम्] मुझे [सौश्रवसम्] उत्तम यश वाला [कुरु] कर दे । [अग्ने] हे परमेश्वर [यथा] जिस प्रकार [त्वम्] आप [देवानाम्] (सूर्यादि भौतिक) दिव्य पदार्थों के [यज्ञस्य] (कर्मों में प्राप्त) यज्ञभाव के [निधिपाः]

५४-प्रदक्षिणमग्निं पर्युक्ष्योत्तिष्ठन्त्समिधमादधाति ।

५५-अग्नये समिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे ।

यथा त्वमग्ने समिधा समिध्यस एवमहमायुषा मेधया वर्चसा प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन समिन्धे, जीवपुत्रो ममाचार्यो मेधाव्यहमसान्यनिराकरिष्णुर्यशस्वी तेजस्वी ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भूयासं † स्वाहेति ॥३॥

रक्षक (=धारक) [असि] हो, [एवम्] उसी प्रकार [अहम्] मैं (भी) [मनुष्याणाम्] मनुष्यों में [वेदस्य] वेद के [निधिपः] कोष का रक्षक [भूयासम्] बन जाऊँ।

५४—प्रदक्षिणा की हुई अग्नि को (जल से) छिड़क कर खड़े हुए (ही) (अग्नि) में समिधा डालता है।

५५—(मैं ने) [बृहते] महान् [जातवेदसे] (समस्त) उत्पन्न (पदार्थ आदि) को ज्ञात [अग्नये] अग्नि को [समिधम्] समिधा [अहार्षम्] दी है। [अग्ने] हे आग [यथा] जैसे [त्वम्] तुम [समिधा] समिधा से [समिध्यसे] प्रदीप्त होती हो [एवम्] उसी प्रकार [अहम्] मैं [आयुषा] आयु [मेधया] धारणवती बुद्धि (वर्चसा) तेज [प्रजया] विश्व ज्योति (या अन्न), [पशुभिः] शान्ति और कल्याण (और) [ब्रह्मवर्चसेन] वेदाध्ययन की सम्पत्ति से [समिन्धे] प्रदीप्त हो जाऊँ। [मम] मेरे [आचार्यः] आचार्य [जीवपुत्रः] दीर्घजीवी पुत्रों वाले (हों अथवा—परम गति-शील, बुद्धिमान् और यशस्वी हैं)। [अहम्] मैं [मेधावी] बुद्धिमान् [असानि] हो जाऊँ, [अनिराकरिष्णुः] (गुरु

५६-एवं द्वितीयां तथा तृतीयाम् ॥४॥

५७-*एषा त इति वा समुच्चयो वा ॥५॥

५८-पूर्ववत् परिसमूहनपर्युक्षणे ॥६॥

५९-पाणी प्रतप्य मुखं विमृष्टे—

६०-तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाह्यायुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि, वर्चोदा अग्नेऽसि वर्चो मे देहि।
अग्ने यन्म तन्वा ऊनं तन्म आपृण ॥७॥

के उपदेश को) न भूलने (या—ठुकराने) वाला, [यशस्वी] कीर्तिमान् (=प्रसिद्ध) [तेजस्वी] तेजस्वी [ब्रह्मवर्चसी] वेद ज्ञान के तेज से युक्त, [अन्नादः] (और) समस्त भोग्य पदार्थों का भोग करने वाला [भूयासम्] रहूँ। [इति] (मेरी) यह [स्वाहा] (वाणी) सिद्ध हो।

५६—इसी प्रकार (इस मन्त्र को पढ़ कर) दूसरी और तीसरी (समिधा) डाले।

५७—अथवा 'एषा ते'-(मन्त्र से समिधा डाले।) अथवा ('अग्नये समिधम्' और 'एषा ते'—इन दोनों मन्त्रों को) मिला कर (समिधा डाले)।

५८—पहले के समान ही (अग्नि को) एकत्र कर के प्रदीप्त करने और जल छिड़कने को (क्रियाएँ करे) ॥६॥

५९—दोनों हाथ तपा कर (उन से) मुख को मलता है।

---

* एषा ते अग्ने समित्तया वर्द्धस्व चा च प्यायस्व। वर्धिषीमहि च वयमा च प्यासिषीमहि ॥ अग्ने वाजजिद्वाजन्त्वा ससृवांसं वाजजितं सम्मार्ज्मि ॥"— य० २।१४॥

६१-मेधां मे देवः सविता आदधातु, मेधां मे देवी सरस्वती आदधातु, मेधामश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजाविति॥८[१]॥

६०--(अग्ने) हे (प्राण और रेतस् के प्रतीक) अग्नि, (तनूपाः असि) (तुम) शरीर के रक्षक हो (मे) मेरे [तन्वम्] शरीर की [पाहि] रक्षा करो। [अग्ने] हे अग्नि [आयुर्दा असि] तुम जीवन के देने वाले हो, [मे] मुझे [आयुः] (यज्ञमय गतिशील) जीवन [देहि] प्रदान करो। [अग्ने] हे अग्नि, [वर्चोदा असि] तुम तेज के देने वाले हो [मे] मुझे [वर्चः] तेज [देहि] दो। [अग्ने] हे अग्नि [मे] मेरे [तन्वाः] शरीर में [यत्] जो कुछ [ऊनम्] कमी हो [तत्] उसे [मे] मेरे (शरीर) में [आ पृण] पूरा कर दो॥७॥

६१—[देवः सविता] दिव्य गुण युक्त सर्वोत्पादक परमेश्वर [मे] मुझे [मेधाम्] मेधा [आदधातु] दें। [दिव्य] अलौकिक स्वरूप वाले [सरस्वती] ज्ञान-रूप परमेश्वर [मे] मुझे [मेधाम्] मेधा [आदधातु] प्रदान करें। [पुष्करस्रजौ] वाक् और प्रतिष्ठा रूपी कमल की माला पहनने वाले [देवौ] दिव्य गुणों वाले [अश्विनौ] अध्यापक और उपदेशक विद्वान् (अथवा, प्राण और अपान)[मे] मुझे] [मेधाम्] मेधा [आधत्ताम्] दें।

१—गुजरातीप्रेससंस्करणे कण्डिकासमाप्तिद्योतकोऽङ्कः— ४ इति अत्रापि प्रदर्शितः।

६२-(अङ्गान्यालभ्य जपत्यङ्गानि च म आप्यायन्तां वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रं यशो बलमिति ।

६३-त्र्यायुषाणि करोति भस्मना ललाटे ग्रीवायां दक्षिणे ँसे हृदि च-त्र्यायुषमिति प्रतिमन्त्रम्) ॥४।५ ॥

६४-अत्र भिक्षाचर्यंचरणम् ॥१॥

६५-भवत्पूर्वां ब्राह्मणो भिक्षेत ॥२॥

६६-भवन्मध्याँ राजन्यः ॥३॥

६७-भवदन्त्यां वैश्यः ॥४॥

६२—[अङ्गों को छू कर (मन-मन में उच्चारण करते हुए) भावना करता है (कि)—मेरे (शरीर के) अङ्ग, वाणी, प्राण, दर्शन और श्रवण शक्तियाँ यश और बल बढ़ते रहें ।

६३—'त्र्यायुषम्'—इन (तीन मन्त्रों में से) प्रत्येक से राख से मस्तक, गरदन, दाहिने कन्धे और हृदय पर त्र्यायुष (–त्रिपुण्ड्रक नाम का तिलक) बनाए] ॥४।५॥

६४—अब भिक्षा माँगने की वृत्ति की जाती है ।

६५—ब्राह्मण गुणों का इच्छुक (वाक्य के) आरम्भ में 'भवत्' का उच्चारण कर के भिक्षा माँगे ।

६६—क्षत्रिय गुणों का इच्छुक 'भवत्' का बीच में (प्रयोग कर के भिक्षा माँगे) ।

६७—वैश्य गुणों का इच्छुक 'भवत्' का अन्त में (प्रयोग कर के भिक्षा माँगे ।)

१—त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम् ।
यद् देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम् ॥ य० ३।६२॥

६८-तिस्रोऽप्रत्याख्यायिन्यः ॥५॥

६९-षड् द्वादशापरिमिता वा ॥६॥

७०-मातरं प्रथमामेके ॥७॥

७१-आचार्याय भैक्षं निवेदयित्वा वाग्यतोऽहःशेषं तिष्ठेदित्येके ॥८॥

७२-अहिंसन्नरण्यात् समिधमाहृत्य[1] तस्मिन्नग्नौ पूर्ववदाधाय वाचं विसृजते ॥९॥

७३-अधःशाय्यक्षारालवणाशी स्यात् ॥१०॥

७४-दण्डधारणमग्निपरिचरणं गुरुशुश्रूषा भिक्षाचर्या ॥११॥

६८—तीन (भिक्षा देने में) इन्कार करने वाली नहीं होतीं।

६९—छै, बारह अथवा असंख्य (इन्कार न करने वाली होती हैं)।

७०—कुछ (आचार्य कहते हैं कि) पहले माता से (भिक्षा माँगे)।

७१—कुछ (आचार्य कहते हैं) कि भिक्षा से प्राप्त सामग्री को आचार्य के अर्पण कर के (अथवा बता कर) शेष दिन में संयत वाणी वाला रहे।

७२—अहिंसक रहते हुए (अथवा बिना स्वयं काटे स्वतः गिरी हुई) समिधाएँ ला कर उस (संस्कार के समय प्रज्वलित की गई) अग्नि में पहले के समान डाल कर (मन्त्र आदि) वाणी को बोले (श०—छोड़े)।

७३—नीचे सोने वाला, खारा और नमक न खाने वाला हो।

७४—डण्डा रखना, अग्नि की (हवन द्वारा) सेवा, गुरु की सेवा और भिक्षावृत्ति (करे)।

१—गुजरातीसंस्करणे—समिध आहृत्य—इति पाठः।

७५-मधुमांसमज्जनोपर्यासनस्त्रीगमनानृतादत्तादानानि वर्जयेत् ॥१२॥

७६-अष्टचत्वारिंशद् वर्षाणि वेदब्रह्मचर्यं चरेत् ॥१३॥

७७-द्वादश द्वादश वा प्रतिवेदम् ॥१४॥

७८-यावद्ग्रहणं वा ॥१५॥

७९-वासांसि शाणक्षौमाविकानि ॥१६॥

८०-ऐणेयमजिनमुत्तरीयं ब्राह्मणस्य ॥१७॥

८१-रौरवं राजन्यस्य ॥१८॥

८२-आजं गव्यं वा वैश्यस्य ॥१९

७५—शराब, मांस, (गोते लगा-लगा कर अतिशय) स्नान (अथवा—मालिश), ऊँचे आसन पर बैठना, स्त्रियों से संसर्ग, झूठ बोलना और न दी हुई वस्तु को लेना छोड़ दे।

७६—अड़तालीस वर्ष तक वेदाध्ययन के लिए ब्रह्मचर्य का सेवन करे।

७७—अथवा प्रत्येक वेद के लिए बारह-बारह वर्ष (ब्रह्मचारी रहे)।

७८—अथवा पूरी प्रकार (वेद) पढ़ लेने तक (ब्रह्मचारी रहे)।

७९—(ब्रह्मचारियों के) वस्त्र सन, रेशम और भेड़ की ऊन के (होते हैं)।

८०—ब्राह्मण का ऊपर का वस्त्र एण (=काला बारह सींघा) नामक हरिण का काला चर्म (हो)।

८१—क्षत्रिय का (उत्तरीय) रुरु नामक हरिण (की खाल हो)।

८२—वैश्य का (उत्तरीय) बकरे या गाय का (चर्म हो)।

८३-सर्वेषां वा गव्यमसति प्रधानत्वात् ॥२०॥

८४-मौञ्जी रशना ब्राह्मणस्य ॥२१॥

८५-धनुर्ज्या राजन्यस्य ॥२२॥

८६-मौर्वी वैश्यस्य ॥२३॥

८७-मुञ्जाभावे कुशाश्मन्तकबल्वजानाम् ॥२४॥

८८-पलाशो ब्राह्मणस्य दण्डः ॥२५॥

८९-बैल्वो राजन्यस्य ॥२६॥

९०-औदुम्बरो वैश्यस्य ॥२७॥

९१-सर्वे वा सर्वेषाम् ॥२८॥

८३—अथवा, न मिलने पर प्रमुख होने के कारण सब का ही (उत्तरीय) गाय (के चर्म) का हो।

८४—ब्राह्मण की तगड़ी मूँज की हो।

८५—क्षत्रिय की (तगड़ी) धनुष नामक घास (या धनुष की डोरी) की (हो)।

८६—वैश्य की (तगड़ी) मूर्वा घास की (हो)।

८७—मूँज न मिलने पर डाभ, अश्मन्तक (या) बल्व नामक घास की बनी हुई (हो)।

८८—ब्राह्मण का डण्डा ढाक का हो।

८९—क्षत्रिय का (डण्डा) बेल का हो।

९०—वैश्य का (डण्डा) गूलर का हो।

९१—अथवा सब के ही (डण्डे) सब ही (लकड़ियाँ) हो (सकती हैं)।

९२-(केशसंमितो ब्राह्मणस्य दण्डो ललाटसंमितः क्षत्रियस्य घ्राणसंमितो वैश्यस्य ।)

९३-आचार्येणाहूत उत्थाय प्रतिशृणुयात् ॥२९॥

९४-शयानं चेदासीन आसीनं चेत्तिष्ठँस्तिष्ठन्तं चेदभिक्रामन्नभिक्रामन्तं चेदभिधावन् ॥३०॥

९५-स एवं वर्तमानोऽमुत्राद्य वसत्यमुत्राद्य वसतीति तस्य स्नातकस्य कीर्त्तिर्भवति ॥३१॥

९६-त्रयः स्नातका भवन्ति—विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रतस्नातक इति ॥३२॥

९२—(ब्राह्मण का डण्डा बालों तक लम्बा, क्षत्रिय का माथे तक लम्बा और वैश्य का कान तक लम्बा हो) ।

९३—आचार्य से बुलाया जाने पर उठ कर सुने ।

९४—यदि (आचार्य) लेटे हुए को (बुलाएँ तो) बैठ कर, यदि बैठे हुए को (बुलाएँ तो) खड़ा हो कर, यदि खड़े हुए को (बुलाएँ) तो पास जा कर और यदि चलते हुए को (बुलाएँ) तो दौड़ कर (सुने) ।

९५—वह (ब्रह्मचारी) इस प्रकार रहता हुआ आज वहाँ स्वर्ग में रहता है, आज वहाँ स्वर्ग में रहता है, इस प्रकार उस स्नातक का यश फैल जाता है ।

९६—तीन प्रकार के स्नातक होते हैं—विद्यास्नातक, व्रतस्नातक और विद्याव्रतस्नातक ।

९७-समाप्य वेदमसमाप्य व्रतं यः समावर्तते स विद्यास्नातकः ॥३३॥

९८-समाप्य व्रतमसमाप्य वेदं यः समावर्तते स व्रतस्नातकः॥३४॥

९९-उभयँ* समाप्य यः समावर्तते स विद्याव्रतस्नातक इति॥३५॥

१००-आषोडशाद्* ब्राह्मणस्यानतीतः[१] कालो भवति ॥३६॥

१०१-आ द्वाविँ*शाद् राजन्यस्य ॥३७॥

१०२-आ चतुर्विँ*शाद् वैश्यस्य ॥३८॥

१०३-अत ऊर्ध्वं पतितसावित्रीका भवन्ति ॥३९॥

९७—जो वेद को (पूरा पढ़ कर) और (ब्रह्मचर्य) व्रत को पूरा समाप्त किए बिना (आचार्य कुल से संसार में) लौट आता है वह विद्यास्नातक (कहलाता) है।

९८—जो ब्रह्मचर्य व्रत को समाप्त कर के और वेद को पूरा न (पढ़) कर (संसार में) लौट आता है वह व्रतस्नातक (होता है)।

९९—जो (वेद और ब्रह्मचर्यव्रत) दोनों को पूरा कर के (आचार्य कुल से पितृकुल में) लौटता है वह विद्याव्रतस्नातक (कहलाता) है।

१००—सोलहवें वर्ष तक ब्राह्मण का (उपनयन) काल है (शब्दार्थ—बीता हुआ नहीं है)।

१०१—क्षत्रिय का (उपनयन काल) २२ वें वर्ष तक है।

१०२—वैश्य का (उपनयन काल) २४ वर्ष तक है।

१०३—इस (ऊपर के सूत्रों में वर्णित अवधि) के ऊपर (सब) गायत्रीमन्त्र के उपदेश से च्युत हो जाते हैं।

१—ब्राह्मणस्य नातीतः।

१०४-नैनानुपनयेयुर्नाध्यापयेयुर्न याजयेयुर्न चैभिर्व्यवहरेयुः ४०॥

१०५-कालातिक्रमे नियतवत् ॥४१॥

१०६-त्रिपुरुषं पतितसावित्रीकाणामपत्ये संस्कारो नाध्यापनं च ॥४२॥

१०७-तेषां संस्कारेप्सुर्व्रात्यस्तोमेनेष्ट्वा काममधीयीरन् व्यवहार्या भवन्तीति वचनात् ॥४३॥५।६॥

१०८-अथोपनीतो ब्राह्मणस्त्रिशिखः शिखी जटिलो मुण्डो वाऽक्षारालवणाशी स्यात् ॥१॥

१०४—(विद्वान्) न इन का उपनयन संस्कार कराएँ, न (इन्हें) पढ़ाएँ, न इन से यज्ञ कराएँ, न इन से व्यवहार करें।

१०५—(ऊपर निर्धारित) काल के बीत जाने पर नित्य कर्मों को न करने वाले व्यक्ति के (साथ किए जाने वाले व्यवहार के) समान (इन से व्यवहार करें)।

१०६—तीन पीढ़ियों (पिता, पुत्र और पौत्र) तक गायत्री के उपदेश से वञ्चित हुए पुरुषों के पुत्र का (न) संस्कार (होता है) और न अध्यापन।

१०७—उन (तीन पुरुषों में से) (जो) उपनयन संस्कार के इच्छुक हों वे व्रात्यस्तोम से यज्ञ कर के व्यवहार के योग्य बन जाते हैं-इस विधान के आधार पर इच्छानुसार पढ़ सकते हैं।

१०८—उपनयन संस्कार किया हुआ ब्राह्मण बालक तीन चोटियों (या) एक चोटी या जटाओं वाला या मुंडे (हुए सिर) वाला खारी और नमकीन न खाने वाला रहे।

१०९-सावित्रँ षड्रात्रं त्रिरात्रँ सद्यःकालं वा चरेत् ॥२॥

११०-तदेव व्रतम् उदीक्ष्य दण्डमपो निधाय मेखलां यज्ञोपवीतं चाप्स्वन्तरिति[१] प्रत्यृचं नमो[२] वरुणायेति

१०९—सविता के (व्रत का वह) छै रात (या) तीन रात या उसी समय (=उपनयन के समय) पालन करे।

११०—उसी सविता के व्रत (के पालन) को देख कर डण्डे को (और) 'अप्स्वन्तर्'[१] (और 'देवीरापो'[१]—इन दो मन्त्रों में से) एक-एक मन्त्र से (क्रमशः) मेखला (=तगड़ी) और यज्ञोपवीत को जल में रख कर (और) 'नमो[२] वरुणाय'

*१—अप्स्वन्तर् मन्त्रो विजयचन्द्रशर्मवेदाचार्येणैवं प्रत्तः— अप्स्वन्तरमृतमप्सु मेषजमपामुत प्रशस्तिष्वश्वा भवत वाजिनः। देवीरापो यो व ऊर्मिः प्रतूर्त्तिः ककुन्मान् वाजसास्तेनायं वाजँ सेत् ॥ य० ९।६ परं ॥ सूत्रकाराय चतस्र ऋचो अभिप्रेताः प्रतीयन्ते या एवं सन्ति—

अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजमपामुत प्रशस्तये।
देवा भवत वाजिनः ॥१॥
अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा।
अग्निं च विश्वशंभुवमापश्च विश्वभेषजीः ॥२॥
आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे मम।
ज्योक् च सूर्यं दृशे ॥३॥
इदमापः प्र वहत यत्किं च दुरितं मयि।
यद् वाहमभिदुद्रोह यद् वा शेप उतानृतम् ॥४॥ ऋ० १।२३।१९–२२॥

२—तैत्ति० ७।४।१९।२। मन्त्र का इतना भाग ही अभिप्रेत है।

त्रि[1]र्मधुरं दत्त्वा ततोऽस्याग्नेयं प्रथमं वेदव्रतमादिशेत् ॥३॥

१११-ब्राह्मणक्षत्रियविशां पञ्च सांवत्सरिकाणि वेदव्रतानि भवन्ति ॥४॥

११२-आग्नेयं शुक्रियमौपनिषदं शौलभं गोदानमिति पञ्च सांवत्सरिकाणि वेदव्रतानि चरित्वा स्नात्वोपव्रतं चरेत् ॥५॥

११३-त्रिष्ववगुण्ठनं शुक्रियादिषु शुक्रियं शुक्रैभिः श्रावयेत् ॥६॥

११४-औपनिषदमौपनिषद्भिः शौलभं शौलभिनीभिः ॥७॥

(मन्त्र भाग) से तीन बार मीठा (=दही, शहद और चीनी) दे कर फिर पहले (अग्नि सम्बन्धी (=आग्नेय) वेद के व्रत का उपदेश करे ।

१११—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के एक वर्ष की अवधि वाले पाँच वेदव्रत होते हैं ।

११२—आग्नेय, शुक्रिय, औपनिषद, शौलभ और गोदान—'एक साल की अवधि' में समाप्त होने वाले इन पाँच वेद व्रतों का पालन करे और स्नान कर के 'उपव्रत' का पालन करे ।

११३—(शुक्रियं आदि) तीन व्रतों में परदा (=अवगुण्ठन ?) होता है जो इस प्रकार है)-शुक्रिय व्रत को शुक्रों से सुनवाए ।

११४—औपनिषद व्रत को औपनिषदों से और शौलभ व्रत को शौलभनियों से (सुनवाए) ।

१—त्रिमधुरमिति मुद्रितः पाठः ।

११५-अथवाऽविद्यमान आ ब्रह्मन्[1], उदीरताम्[2], आ नो भद्रा[3], आशु[4] शिशान, इमा नु कम्[5] इति च वेदशिरसाऽत्र-गुण्ठयेत् ॥८॥

११५—अथवा उपस्थित हो कर "आ ब्रह्मन्"[1], "उदीरताम्"[2], "आ नो भद्रा"[3], "आशु शिशान"[4], और "इमा नु कम्"[5] इन मन्त्रों रूपी वेद के उत्तमाँग (=सिर) से परदा करे।

१—आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥ य० २२।२२ ॥

२—उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः। असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु ॥ य० १९।४९॥

३—आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासो अपरीतास उद्भिदः। देवा नो यथा सदमिद्वृधे असन्नप्रायुवो रक्षितारो दिवे दिवे ॥ य० २५।१४ ॥

४—आशुः शिशानो वृषभो न भीमो घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम्। संक्रन्दनोऽनिमिष एकवीरः शतं सेना अजयत् साकमिन्द्रः ॥ य० १७।३३ ॥

५—इमा नु कं भुवना सीषधामेन्द्रश्च विश्वे च देवाः। आदित्यैरिन्द्रः सगणो मरुद्भिरस्मभ्यं भेषजा करत्। यज्ञं च नस्तन्वं च प्रजां चादित्यैरिन्द्रः सह सीषधाति ॥ य० २५।४६ ॥

११६-अवगुण्ठनीं त्रिवलिं पञ्चवलिं वा नाभिदेशात् प्रच्छाद्य वाग्यतोऽरण्येऽधः शयीत ॥६॥

११७-ग्रामे गोष्ठे देवायतने वा ॥१०॥

११८-व्युष्टायामवगुण्ठनीमरण्ये विसृजेत् ॥११॥

११६-अदृश्रमस्य, उदु त्यं, चित्रं देवानामित्युदितेऽर्के जपति ॥१२॥

११६—तीन वलियों या पाँच वलियों वाले परदे को नाभि प्रदेश तक ढ़क कर और वाणी को संयम में रख कर बन में नीचे (भूमि पर ही) लेटे (या सोए)।

११७—अथवा गाँव में या सभास्थान या देवमन्दिर में (सोए)।

११८—उषाकाल होने पर परदे को जंगल में छोड़ दे।

११६—सूर्य के उदय होने पर 'अदृश्रमस्य'[1], 'उदु त्यं'[2], और 'चित्रं देवानाम्'[3] इन मन्त्रों का जप करे (शा८ करता है)।

१—अदृश्रमस्य केतवो वि रश्मयो जनाँ अनु। भ्राजन्तो अग्नयो यथा। उपयामगृहीतोऽसि सूर्याय त्वा भ्राजायैष ते योनिः सूर्याय त्वा भ्राजाय। सूर्य भ्राजिष्ठ भ्राजिष्ठस्त्वं देवेष्वसि भ्राजिष्ठोऽहं मनुष्येषु भूयासम् ॥ य० ८।४० ॥

२—उदु त्य जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥ य० ३३।३१ ॥

३—चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः। आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्ष ँ् सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा ॥ य० ७।४२

१२०-वर्षति द्यौः शान्तिरिति शान्तिं करोति ॥१३॥

१२१-शान्तिभाजनं गुरवे दद्यात् ॥१४॥

१२२-एवमेवावगुण्ठनीं च ॥१५॥

१२३-गोदाने गोमिथुनम् ॥१६॥

१२४-तस्माद् गोदानमिति तस्माद् गोदानमिति ॥१७॥७॥

इति पारस्करगृह्यसूत्र उपनयनसूत्राणि ।

१२०—(द्युलोक के) बरसने पर 'द्यौः शान्तिः'[1] (मन्त्र का उच्चारण) कर के शान्ति (की कामना) करता है ।

१२१—शान्तिपात्र को गुरु को दे देवे ।

१२२—इसी प्रकार परदे को (गुरु को दे दे) ।

१२३—गोदान (व्रत) में गौओं का जोड़ा (गुरु को देवे) ।

१२४—(गो दी जाती है) इसी लिए इस व्रत को गोदान कहते हैं, इसी लिए यह गोदान है ।

पारस्कर गृह्यसूत्र के उपनयन सूत्रों का डा० सुधीर कुमार गुप्त, एम० ए०, पीएच० डी०, शास्त्री, प्रभाकर द्वारा रचित शाब्दिक हिन्दी रूपान्तर समाप्त हुआ ।

१—द्यौः शान्तिरन्तरिक्षँ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः । वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वँ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ॥
य० ३६।१७॥

वेदलावण्ये

पारस्करीयोपनयनसूत्रेषु

टिप्पण्यः

पदानुक्रमणिका च ।

पारस्करीयोपनयनसूत्र
परिशिष्ट १
सुकाशिनी टिप्पणियां

उपनयनसंस्कार—आचार्यस्य आचार्याया वा उप समीपे बालकस्य बालिकायाः वा नयनमुपनयनम् ।. आचार्य/आचार्या के पास लड़के/लड़की को विद्याग्रहण के लिए पहुंचाना उपनयन संस्कार कहलाता है । इस में गृह्यसूत्रों में वर्णित विधि के अनुसार बालक/बालिका को आचार्य/आचार्या के पास लाना, अग्नि के पास बिठाना, गायत्री का उच्चारण कराना और अन्य विहित कर्म किए जाते हैं ।

(ii) उपनेता—उपनयन कराने का अधिकार पिता आदि को है—

"पिता पितामहो भ्राता ज्ञातयो गोत्रजाग्रजाः ।
उपायनेऽधिकारी स्यात् पूर्वाभावे परः परः ॥"

पिता, दादा, चाचा, सम्बन्धी, गोत्रोत्पन्न बड़े भाई क्रमशः उपनयन करा सकते हैं । गदाधर के मत में यह विधि ब्राह्मण बालक के लिए है, शेष का उपनयन पुरोहित ही करा सकता है । भाव यह है कि जो भी बालक के अध्यापन के लिए नियुक्त हो वही उपनयन कराए, जो न पढ़ावे वह उपनयन न कराए, चाहे वह कुलपुरोहित ही क्यों न हो । जिस बालक के पिता आदि में से कोई सम्बन्धी वेद का अध्यापक हो, वह बालक चाहे जिस वर्ण की योग्यता का इच्छुक हो उस सम्बन्धी से उपनयन करवा सकता है क्यों कि उपनयन वेदाध्ययन के निमित्त होता है । यदि पिता आदि

वेदाध्यापक नहीं हैं, अथवा उपनयनोपरान्त वे बालक को वेद न पढ़ाएं तो वे उपनयन कराने के अधिकारी नहीं हैं।

उपनयन का काल

(i) **अष्टवर्षमिति**—अष्टौ वर्षाणि अतीतानि यस्य असौ, तम्। जिस के जन्म को आठ वर्ष बीत चुके हैं। **गर्भाष्टमे**—गर्भः गर्भसहचरितो वर्षः अष्टमो येषां तानि गर्भाष्टमानि तेषु अतीतेषु। बहुवचन के स्थान पर एक वचन का प्रयोग हुआ है। हरिहराचार्य के मत में इस का भाव नवमे या आठवें वर्ष में है। इसी प्रकार वे और गदाधर क्षत्रिय का उपनयन जन्म से १२ वें वर्ष में और वैश्य का १३ वें वर्ष में मानते हैं।

विभिन्न वर्णों के उपनयन में आयु की भिन्नता का कारण

(ii) उपनयन की आयु का विधान प्रायः सर्वत्र यही है। इस का आधार बालक की योग्यता और अध्ययन के लिए आपेक्षिक प्रौढ़ता है। ब्राह्मण आदि के लक्षण इस प्रकार हैं*। ब्राह्मण का लक्षण यह है—

"अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहञ्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥" मनु० १/८८

"शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥" गी० १८/४२

(iii) इन लक्षणों के अनुसार ब्राह्मण बनने के योग्य और इच्छुक बालक को सरलहृदय, सुख से निरपेक्ष और दान लेने के संस्कार वाला बनाना आवश्यक है। उसे बहुत कुछ रटना भी पड़ता है। कर्मकाण्ड सीखना और करना पड़ता है। खोज की प्रवृत्ति भी उस को धारण करनी पड़ती है।

---

*यह विषय संवि पृ० २२८—२३१ में सविस्तार हिन्दी में दिया गया है। वहाँ देखा जा सकता है।

अतः उस के अध्ययन का काल अन्यों से अधिक और सुकुमारावस्था में प्रारम्भ होना आवश्यक है। आठ वर्ष के बालक में परिपक्वता कुछ अल्प होती है। अतः उस के इस प्रकार के संस्कार डाले जा सकते हैं।

(iv) स्वामी दयानन्द सरस्वती ने संवि० पृ० २२८ पर मनु० १०/१०६ के प्रमाण से ब्राह्मण के लिए दान लेना निकृष्ट माना है। परन्तु मनु का यह श्लोक ब्राह्मण के प्रमुख कर्मों—याजन और अध्यापन को भी निकृष्ट बताता है। वैसे भी यह वर्णन शूद्रों से दान लेने से सम्बन्धित है। अतः यह श्लोक उस काल में मनुस्मृति में डाला गया जब समाज में शूद्रों का सम्मान आज के समान घट गया। अतः इस से उपरोक्त स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आता है।

(v) क्षत्रिय के लक्षण ये हैं—

"प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥" मनु० १/८९

"शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरस्वभावश्च क्षात्रकर्म स्वभावजम्॥" गी० १८/४३

(vi) ग्यारह वर्ष की आयु में बालक का शारीरिक विकास प्रारम्भ हो चुकता है। इस समय तक उस की क्षत्रियोचित प्रवृत्तियों का परिचय मिल जाता है। वह शारीरिक व्यायाम और शस्त्रविद्या आदि सीखने योग्य हो जाता है। ऐसे बालक की ब्रह्मविद्या के प्रति बुद्धि कुछ देर में विकसित होती है। अतः उस के लिए इस आयु का निर्धारण किया गया होगा।

(vii) वैश्य के लक्षण ये हैं—

"पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च॥" मनु० १/९०

(viii) इस शिक्षा के लिए अधिक प्रौढ़ और व्यवहारकुशल बुद्धि की आवश्यकता है। ऐसे बालकों की बुद्धि वेदादि की ओर भी कम प्रवृत्ति रखती है। अतः इन के लिए १२ वर्ष की आयु में यज्ञोपवीत का विधान किया गया है।

ब्राह्मणं, राजन्यं, वैश्यम्—जन्म से सब बालक समान होते हैं। उन की प्रवृत्तियों का विकास शनैः शनैः होता है। प्रत्येक बालक अपने माता-पिता के गुणों वाला नहीं होता। वैसे भी प्राचीन काल में वर्णव्यवस्था गुण, कर्म और स्वभाव के अनुसार होती थी। गुणादि सहज भी होते हैं और अभ्यासप्राप्य भी। अतः यज्ञोपवीत के समय बालक की प्रवृत्ति और कामना के आधार पर उस की श्रेणी नियत की जाती थी। इसी आधार पर हिन्दी अनुवाद किया गया है।

४. यथामङ्गलमिति—मंगलमनुसृत्येति यथामङ्गलम्। जैसा बालक के हित में हो। अभिप्राय यह है कि उपरोक्त उपनयन की आयु का विधान नितान्त नियमित नहीं है। उस में आवश्यकतानुसार उलट-फेर किया जा सकता है।

(ii) इस सूत्र में प्राचीनकाल के इतिहास का अवशेष मिलता है। उस समय सब बालकों की आठ वर्ष या उस से पूर्व ही शिक्षा प्रारम्भ हो जाती होगी क्योंकि प्राचीन भारत जैसे उन्नत देश में कुछ बालकों का ११ और १२ वर्ष तक गुरुकुल में पढ़ने न जाने देना बुद्धिगम्य नहीं। हो सकता है बालकों की प्रवृत्तियों का अध्ययन करने के उपरान्त उन को विशिष्ट विद्यालयों में भेजने के लिए आयु के ये स्तर निर्णित किए गए हों और कालान्तर में संस्कृति और वेदज्ञान के ह्रास होने पर इन स्तरों को उपनयन से सम्बद्ध कर दिया गया हो। आज की परिस्थिति में आयु के ये स्तर उपयुक्त प्रतीत नहीं होते।

(ii अ) कर्क आदि आचार्यों ने यहाँ पर मंगल का अर्थ दूसरे आचार्यों के शास्त्रों के विधान किया है, जिन में ब्राह्मणादि का उपनयन क्रमशः ५ वें, ६ ठे और ८ वें वर्ष में बताया गया है। तु० क० मनु० २/३७

"ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पंचमे ।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्यार्थार्थिनोऽष्टमे ॥"

आपस्तम्ब के विकल्प भी विचारणीय हैं—"अथ काम्यानि । सप्तमें ब्रह्मवर्चसकाममष्टमे आयुष्कामं नवमे तेजस्कामं दशमे अन्नाद्यकाममेकादशें इन्द्रियकामं द्वादशे पशुकाममुपनयेत् ।"

(iii) श्री शुकदेव के विचार में 'यथामंगलम्' के दो व्याख्यान हैं— १. आठ, ग्यारह और बारह वर्ष—इन में से जिस वर्ण को जिस आयु में सुविधा हो उसी आयु में । २. पारस्कर और अन्य आचार्यों के आयु-विधानों में से प्रत्येक वर्ण अपने-अपने वर्ण की वैकल्पिक आयुओं में से छांटी हुई किसी एक आयु में । इस प्रकार ब्राह्मण ५वें या ८वें में, क्षत्रिय छठे और ग्यारहवें में और वैश्य ८वें और १२वें वर्ष में **उपनयन** करा सकते हैं ।

(iv) कुछ आचार्यों ने इस आयुमान के साथ ऋतु का भी विधान किया है—ब्राह्मण का वसन्त में, क्षत्रिय का ग्रीष्म में और वैश्य का वर्षा (=शरद्) में उपनयन किया जाए । अन्य आचार्यों ने इस का और भी विस्तार किया है और पक्ष, नक्षत्र, राशि आदि का भी विधान माना है । निषिद्ध कालों की कल्पना भी की गई है । देखो गदाधर का भाष्य ।

शूद्रों के उपनयन के विधान के अभाव का कारण

(v) यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि शूद्रों का उपनयन क्यों नहीं बताया गया है । इस पर ये विचार उपलब्ध होते हैं—

१. पौराणिक सम्प्रदाय का विचार है कि शूद्रों की उत्पत्ति पैर से होने के कारण वे निकृष्ट हैं । अतः उन्हें पढ़ने का अधिकार नहीं है ।

२. आर्यसमाज और उस के प्रवर्तक ऋषि दयानन्द का विचार है कि जो व्यक्ति मूर्ख हो, पढ़ने में असमर्थ हो वह शूद्र होता है । ऐसे व्यक्ति के उपनयन का प्रश्न ही नहीं उठता ।

३. सं० चं० के लेखक मानते हैं कि स्मृतिकारों के मत में शूद्र का कर्म अन्य वर्णों की सेवा करना है। इस के लिए किसी विशेष शिक्षा की आवश्यकता नहीं है। भाव यह है कि राष्ट्र के समस्त बालकों को ब्राह्मण आदि तीन श्रेणियों में विभक्त करने के पश्चात् जो शेष रहें वे शूद्र होंगे।

४. डा० अम्बेदकर* का मत है कि पहले शूद्र वर्ण नहीं था। आधुनिक शूद्र पहले क्षत्रिय थे। ब्राह्मणों से संघर्ष में वे हारे और समाज में पद-दलित और उपनयन आदि से वञ्चित किए गए।

५. परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं मालूम पड़ती। जैसा कुछ विस्तार से इस ग्रन्थ की भूमिका में लिखा है वैदिक काल में समाज के अनेक दृष्टियों से विभाग किए गए थे। उन में एक विभाग शूद्र और आर्य था। वेद में इन दोनों का प्रयोग सर्वत्र इसी क्रम से आने और य० २६।२ के ब्रह्मराजन्य के क्रम से तुलना करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि शूद्र आर्यों से श्रेष्ठ होते थे। वे उसी जाति के थे जिस के आर्य। आर्यों के तीन विभाग किए गए— ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य। इन में जो श्रेष्ठ व्यक्ति होते थे वे शूद्र कहलाए जाते रहे होंगे। कालान्तर में ब्राह्मण आदि के समान उन का भी एक पृथक् वर्ग बन कर चतुर्थ वर्ण के रूप में आर्यसमाज में परिगणित हुआ। साथ ही अब कल्पना की विषय परिस्थितियों में ये अपने मध्यकालीन और आधुनिक रूप को प्राप्त हुए।

(vi) अतः प्राचीनतम काल में शूद्रों के पृथक् वर्ण न होने के कारण उन के लिए यज्ञोपवीत संस्कार का विधान नहीं किया गया है। उन के पृथक् वर्ण बनने के समय से ही अथवा उस के शीघ्र बाद ही ये समाज में पददलित हो गये होंगे। अतः उस अवस्था में विजयी ब्राह्मण उन को उपनयन का अधिकार देने के लिए कैसे तैयार होते। जो शूद्र ब्राह्मणों के आचार के अनुकूल होते थे उन का उपनयन होता था। आपस्तम्ब के लेख—'शूद्रा-

* देखो डा० अम्बेदकर, हू आर दी शूद्राज़, बम्बई १९४७

णामदुष्टकर्मणामुपनयनम्' का भी यही अभिप्राय है। होते-होते सब शूद्रों को उपनयन से वञ्चित कर दिया गया।

ब्रह्मभोज

५. ब्राह्मणानिति—पूर्वोक्त ब्राह्मण के लक्षणों से स्पष्ट है कि उन के पास आजीविका का कोई साधन नहीं था। समाज को उन के निर्वाह का प्रबन्ध करना आवश्यक था। अतः सब विशिष्ट अवसरों पर उन के लिए भोजन और दानादि की व्यवस्था की गई। इस से यह समझा जा सकता है कि वैश्य के कर्म और वृत्ति—वाणिज्य, कृषि, वेतनग्रहण आदि करने वाले ब्राह्मणों के लिए भोजन और दान वैदिक संस्कृति को अभिप्रेत नहीं है। हिंदी अनुवाद इसी दृष्टि से किया गया है।

(ii) श्री कर्काचार्य के मत में यहां 'श्राद्ध न खाने वाले ब्राह्मण' अभिप्रेत हैं। परन्तु पारस्कर गृह्यसूत्र में श्राद्ध का विधान नहीं है। सम्पादकों ने परिशिष्ट रूप में श्राद्ध की विधि अन्य आचार्यों के अनुसार दी है। यदि उस में दिये गये श्राद्ध में खिलाने योग्य ब्राह्मणों के गुणों पर दृष्टि डालें तो कोई ऐसा ब्राह्मण शायद ही बचे जो श्राद्धभोजी न हो सके। अतः गुण रहने पर भी जो श्राद्ध न खाए—यही भाव हो सकता है। जयराम इन श्राद्ध-व्यतिरिक्त ब्राह्मणों के साथ ही उपनेतव्य बालक को भी भोजन कराना मानते हैं।

(iii) इन भोज्य ब्राह्मणों की संख्या तीन बताई गई है।

६. तञ्च—गदाधराचार्य के विचार में 'च' के प्रयोग से 'भोजनकर्म' का भाव इस सूत्र में पहले सूत्र से आ जाता है।

ब्रह्मचारी का वेष

६. पर्युप्त—परि + वप् + क्त। परि सर्वत उप्तं मुण्डितं शिरो यस्य स पर्युप्तशिराः, तम्। मुंडा हुआ, बाल कटाया हुआ। प्राचीनकाल में सिर मुंडवाना शौच और मांगलिक कर्म समझा जाता था। आज भी विशेष उत्सवों पर

लोग बाल छटवाते हैं। अलंकृतम्—अरम् √कृ + क्त। आभूषणों से युक्त। कर्क—स्रक् माला आदि से अलंकृत। रमणीयता के बिना मन किसी विषय में नहीं जमता है। अतः बालक के मन पर संस्कार का प्रभाव डालने के लिए उसे अलंकृत किया जाता था। परन्तु ब्रह्मचर्य काल में ब्रह्मचारी धातुनिर्मित आभूषण नहीं पहन सकता था। वेशादि का संस्कार भी निषिद्ध था। अतः यहाँ पर अलंकरण स्नान और धौत वस्त्र धारण करने का द्योतक प्रतीत होता है। यही भाव—अवे० ११।७।२६ के—स स्नातो बभ्रुः पिंगलः पृथिव्यां बहु रोचते—में है। ऋषि दयानन्द ने संवि० पृ० ८० पर 'प्रातःकाल बालक का क्षौर करा शुद्ध जल से स्नान करा के उत्तम वस्त्र पहिना……मिष्टान्न आदि का भोजन करा के' लिख कर यही भाव लिया है। पारस्कर ने भोजन का विधान नहीं किया है। परन्तु कर्काचार्य ने अपने भाष्य में 'शिरसश्च परिवपनं भोजनात् पूर्वमेव' कह कर दस० का समर्थन किया है। डा० राजबली पाण्डेय ने लिखा है कि सामान्यतः मुण्डन और उपनयन संस्कार साथ-साथ होते थे। यहां पर पर्युप्तशिरसम् में इस तथ्य का संकेत भी माना जा सकता है। आनयन्ति—आचार्य द्वारा पहले से नियत व्यक्ति अथवा, पितृकुल के व्यक्ति आचार्य के पास लाते हैं। आजकल भी विद्यालय में प्रवेश कराने के लिए और उपनयन के समय पिता आदि अभिभावक उपस्थित होते हैं।

ब्रह्मचारी को पश्चिम में बिठाने का रहस्य

७. पश्चादग्नेः—प्रत्येक शुभ कर्म और संस्कार के प्रारम्भ में प्रार्थना के आठ मन्त्र, स्वस्तिवाचन, शान्ति-प्रकरण का पाठ, आचमन, अंगस्पर्श, अग्न्याधान और समिधादान के साथ हवन या यज्ञ किया जाता था। इस सूत्र का कार्य संवि० में पृ० २६ तक लिखी हवन की विधि के सदृश हवन समाप्त हो जाने पर प्रारम्भ होता है।

(ii) ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार पश्चिम दिशा का राजा वरुण है,[1] देवता सोम[2]। वरुण नियम और व्रत का प्रतीक है[3]। सोम[4] शान्ति मनः-

संयम और इन्द्रियसंयम—शम, दम) का द्योतक है। यह दिशा सर्पों[५] (= देवों[६] = विद्वानों[७]) की है। इस दिशा में मानव वायु के समान पवित्र करने वाला हो कर गतिशील होता है[८]। ज्ञान-विज्ञान का ज्ञाता सविता प्रतीची दिशा को जानता है[९]। स्वाराज्य की प्राप्ति के लिए परमैश्वर्यशाली और बलवान् राजा (=इन्द्र) का अभिषेक पश्चिम दिशा में किया जाता था[१०]। अथर्वनों (=अहिंसक विद्वानों) और आंगिरसों (=प्राण-विद्याविशारदों) की दिशा भी पश्चिम है[११]। इसी दिशा में महः (=तेज) स्थित है[१२]। इधर बैठ कर यज्ञ करने वाला तेजस्वी और यशस्वी होता है[१३]। इसी लिए ब्रह्मचारी को भी अग्नि के पश्चिम में बिठाने का विधान है।

(iii) इस से यह ध्वनि भी निकलती है कि तेजस्वियों के पीछे रहने से तेज की वृद्धि होती है।

ब्रह्मचर्यम्—ब्रह्मचर्यव्रत=वेदाध्ययन के नियमों का पालन यथा वीर्यरक्षा, गुरुसेवा, वेदाध्यापन का श्रवण, मनन, निदिध्यासन और परिप्रश्न आदि। तु० क०—ब्रह्म वेदस्तच्चरणम् (गदाधरभाष्य)।

(ii) ब्रह्म के अनेक अर्थ हैं। प्रकरणोपयोगी अर्थ ये हैं[१४]— वाक्, सत्य, ऋत, मन, हृदय, चक्षु, श्रोत्र, गायत्री, प्रणव (=ॐ का उच्चारण), ऋक्, मन्त्र, वेद, प्रजापति, बृहस्पति, चन्द्रमा, आदित्य, अग्नि, यज्ञ, प्राण

---

१. जैउ०. ३।२१।२; अवे० ३।२७।३. २. तै० ३।११।५।२। ३. वरुणः सम्राट् सम्राट्पतिः। तै० २।५।७।३। ४. वरुण और सोम के वैदिक वर्णन देखें। वरुण—√वृ से और सोम √सु से है। ५. श० ३।१।१।७। ६. तै० २।२।६।२। ७. श० ६।३।१।१६। ८. तै० २।३।६।६; ऐ० १।७। ९. श० ३।२।३।१८। १०. ऐ० ८।१४। ११. तै० ३।१२।६।१। १२. गो० १।५।१५। १३. तु० क० ऐ० ८।१४। १४. देखो वैको० में ब्रह्मपद।

आदि। वाणी, मन, हृदय आदि पर वश, सत्य और ऋत का पालन, गायत्री आदि का अध्ययन और मनन, प्रणव का सेवन, प्रजापति और बृहस्पति का ज्ञान और उस के गुणों को धारण करना, चन्द्र आदि के गुणों को धारण करते हुए उन का यथोचित उपयोग करना, अग्नि, यज्ञ और प्राण विद्याओं का अध्ययन और यज्ञमय बनना आदि **ब्रह्मचर्यव्रत** के अन्तर्गत आते हैं। ब्रह्मचर्य के तप से ही मृत्यु पर विजय प्राप्त होती है और विशिष्ट कर्म सम्पन्न होते हैं—(अवे० ११।७।१८।१९ आदि)। ब्रह्मचर्य की महिमा अवे० ११।७ में विस्तार से वर्णित की गई है। इस का सविस्तार अंग्रेजी व्याख्यान भूमानन्द सरस्वती रचित वैदिकी लौकव्यवस्था तथा कुछ मन्त्रों का संक्षिप्त भाव संवि० पृ० ९८, ९९ पर देखा जा सकता है। पं० सातवलेकर का अर्थ भी सुन्दर है। वैको० पृ० ३७०-३७२ में ब्रह्मचारी के सम्बन्ध में संकलित ब्राह्मणग्रन्थों के वाक्य भी देखें।

आगाम्—आ + √इ लुङ् उत्तम पु० एक व०। **असानि**—√अस् (होना), लोट् उत्तम पु० एक व०। हो जाऊँ, बन जाऊँ। भाव यह है कि आचार्य बालक से कहे—'ओ३म्, ब्रह्मचर्यमागामिति ब्रू३हि।' इस के उत्तर पर बालक कहे—'ओ३म् ब्रह्मचर्यमागाम्'। अब आचार्य कहे—'ओ३म् ब्रह्मचार्यसानीति ब्रू३हि'। और बालक कहे—'ओ३म् ब्रह्मचार्यसानि।' इस समय बालक यज्ञवेदी पर पश्चिम की ओर आचार्य के दाहिनी ओर पूर्व को मुख कर के बैठे।

वस्त्रपरिधान का महत्त्व

८. **वासः**—वासस् से द्वितीया एक व० (नपुं०)। भाष्यकारों ने कोरे—बिना धुले (=अहत) वस्त्रों का विधान माना है। तु० क० नित्यमनुपहतवासाः सुमनाः सुगन्धिः स्यात्। चरकसंहिता। जयराम ने 'अहत' का लक्षण यह दिया है—

"ईषद्धौतं नवं श्वेतं सदशं यन्न धारितम्।
अहतं तद् विजानीयात् सर्वकर्मसु पावनम्" इति॥

परिधापयति—परि+√धा+णिच्+लट् प्रथम पु० एक व०। संचं० के मत में वस्त्र पहिनाना बालक के मन में आचार्य के प्रति प्रीति उत्पन्न कर देता है[1]। वस्तुतः वस्त्र मानव के रूप हैं[2]। उन से वह सुशोभित होता है[3]। वे ओषधिस्वरूप हैं[4]। साथ ही वस्त्र मनुष्य के स्वरूप और स्वभाव आदि के द्योतक होते हैं। अतः आचार्य विद्यार्थी को उस के पाठ्यक्रम के लिए नियत वस्त्रों को देता है। ये ही वस्त्र उसे अपने ब्रह्मचर्यकाल में पहनने हैं। ये वस्त्र ब्राह्मण के शाण के, क्षत्रिय के क्षौम के और वैश्य के आवि के होने चाहिएं। इन का वर्णन आगे सूत्रकार स्वयं करेंगे (देखो सूसं० ७६)।

९. इन्द्राय—इन्द्र पद √इन्द् धातु से बनता है। समस्त वीरकर्म इन्द्र से सम्बन्धित हैं[5]। वह परमैश्वर्यशाली भी होता है[6]। कर्मकाण्ड में प्रयुक्त मन्त्र का अर्थ उस क्रिया और प्रकरण के अनुसार करना आवश्यक है जिस में वह प्रयुक्त हो[7]। अतः हिन्दी अनुवाद प्रकरणानुसार है।

(ii) पुराणों में इन्द्र नाम का देवताओं का राजा है। उस का गुरु बृहस्पति है। टीकाकारों ने इसी अर्थ को अपनाया है। यह विधि वैदिक काल[8] से चली आती है। यह कथा आख्यानिक और पौराणिक है, वास्तविक नहीं। अपि च—इस विधि का मूल अवे० ११।७।४—७ हैं। इन में ७वें मन्त्र में ब्रह्मचारीमात्र को 'इन्द्र' कहा है—'ब्रह्मचारी जनयन् ब्राह्मापो लोकं प्रजापतिं

---

१. संचं० पृ० ४१२। २. श० १३।४।१।१५। ३. श० ३।१।२।१६ ४. श० १।३।१।१४। ५. नि० ७।१० ६. तु० क० मघवा पद। इस का वैदिक वर्णन भी देखें। ७. देखो वेभाप० ११।३—४। तथा कात्यायन श्रौत सूत्र २।३।१३ और उस पर कर्कभाष्य। ८. यद्यपि अवे० ११।६।२४ में पुराण को वेदादि के साथ उच्छिष्ट से उत्पन्न माना है, तथापि अवे० ११।१०।७—

येत आसीद्भूमिः पूर्वा यामद्धातय इद्विदुः।
यो वै तां विद्यान्नामथा स मन्येत पुराणवित्॥

के अनुसार वहां पुराण वेद के सृष्टिविषयक सूक्तों का द्योतक है।

परमेष्ठिनं विराजम् । गर्भो भूत्वा अमृतस्य योनाविन्द्रो ह भूत्वासुरांस्ततर्द ॥' अतः इन्द्र का भाष्यकारों का अर्थ माननीय नहीं । इसी आधार पर उन का बृहस्पति-पद का अर्थ भी अमान्य है ।

(iii) ब्राह्मण ग्रन्थों में **बृहस्पति** को वाणी का स्वामी[1], ब्रह्मपति[2], ब्रह्मणस्पति[3] कहा गया है । ऋग्वेद[4] में **आंगिरसों** को ऋत (=वेद) का शंसक, दिवस्पुत्र, असुर के वीर विप्र और यज्ञ का ज्ञाता कहा गया है । बृहस्पति आँगिरसों में है । अतः हिन्दी अनुवाद ।

पर्यदधात्—परि+√धा+लङ् प्रथम पु० एक व० । पहनाते थे अर्थात् पहनाते आए हैं । वैसे भी वैदिक भाषा में भूतकाल की क्रियाएं सब कालों को व्यक्त करती हैं । **अमृतम्**—न मृतम् (√म्रि+क्त) अमर, मरण-रहित, अपरिवर्तित, अतः नियत, निश्चित, निर्धारित । ब्राह्मणग्रन्थों में प्राप्त इस पद के कतिपय अर्थ इस प्रकार हैं—मृत्यु का वारक,[5] सर्व आयु[6], प्राण[7], आपः[8], हिरण्य[9], आदित्य[10], अग्नि[11] और प्रजापति[12] । इन अर्थों की दृष्टि में ही हिन्दी अनुवाद किया गया है । संचं०—दृढ़, नया । भाष्यकार अहत, कोरा । **त्वा**—त्वाम् । **आयुषे, आयुत्वाय**—आयुपद षकारान्त भी और उकारान्त भी । दोनों पद समानार्थक हैं, परन्तु यहां दोनों का एक साथ प्रयोग बताता है कि दोनों से पृथक्-पृथक् भाव अभीष्ट हैं । अथवा आयुष्—आयु के अभीष्ट भाव को महत्त्व प्रदान करने के लिए भी यह पुनरुक्ति मानी जा सकती है ।

(ii) ब्राह्मणग्रन्थों में **आयु** के अर्थ वरुण, अग्नि, संवत्सर, यज्ञ, अन्न, प्राण आदि दिए हैं[13] । वरुण नियमों और व्रतों का द्योतक है[14], अग्नि

---

१. श० १४।४।१।२२। २. तै० २।५।७।४। ३. तै० ३।११।४।२ ४. ऋ० १०।६७।२ ५. श० १०।२।६।६। ६. श० ६।५।१।१० ७. गो० २।१।१३ ८. तै० १।७।६।३ ९. तै० १।७।६।३ १०. श० १०।२।६।१६ ११. श० १०।२।६।१७ १२. श० ६।३।१।१७ । १३. देखो वैको० में आयुः-पद । १४. ऋ० १।२५।१०।

अग्रणीत्व, दाहकत्व आदि का, संवत्सर काल का, यज्ञ विद्याग्रहण, तपश्चरण आदि शुभ कर्मों का, अन्न और प्राण शारीरिक स्वास्थ्य और शक्ति आदि के[1]। अतः यहां ये सभी भाव अभिप्रेत हैं। **आयुत्वाय**—आयोर्भावः आयुत्वम्, तस्मै। **बलाय**—शारीरिक शक्ति। **वर्चसे**—ब्रह्मतेज। जयराम इन्द्रियशक्ति, ऐश्वर्य।

येनेन्द्राय मन्त्र का अर्थ

(iii) समस्त मन्त्र का सं० च० का अर्थ इस प्रकार है—हे बालक (येन) जिस विधि से (बृहस्पतिः) गुरु-आचार्य ने (इन्द्राय) अपने शिष्य के लिए (अमृतं वासः) जो जला, फटा, कम चलने वाला न हो ऐसे वस्त्र को (पर्यदधात्) धारण कराया है (तेन) उस विधि से ही (त्वा) तुझे (परिदधामि) मैं सुन्दर वस्त्र पहनाता हूं (आयुषे) स्वास्थ्य के लिए और (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ जीवन के लिए (बलाय) देह में शक्ति आने के लिए (वर्चसे) इन्द्रियों के तेज के लिए वा ऐश्वर्य के लिए।

(iv) श्री शुकदेव लिखते हैं कि वस्त्र पहन कर ब्रह्मचारी दो आचमन करे। पारस्कर का ऐसा विधान नहीं है।

१०. मेखलाम्—तगड़ी। जिस प्रकार आजकल धोती को धारण करने के लिए तगड़ी और पतलून आदि के धारण के लिए पेटी पहनी जाती है, उसी प्रकार प्राचीन समय में मृगचर्म और वल्कलों को धारण करने के लिए मेखला पहनी जाती थी। ब्राह्मण आदि के लिए भिन्न-भिन्न मेखलाएं बताई गई हैं। इन का वर्णन आगे आयेगा। मेखला—मीयते प्रक्षिप्यते कायमध्यभागे। √मी+खल्। **बध्नीते**—√बन्ध्+लट् आत्मनेपद, प्रथम पु०। धातुपाठ में यह धातु परस्मैपदी है। यहां मेखला ब्रह्मचारी को बांधी जानी है। यदि, जैसा भाष्यकारों ने माना है, यह मेखलाबन्धन

१. इन पदों की व्युत्पत्ति और ब्राह्मण ग्रन्थों के अर्थों के आधार पर व्याख्या।

आचार्य द्वारा किया गया माना जाये तो दो समस्याएं उपस्थित होती हैं—बध्नीते का फल कर्तृगामी नहीं है, प्रत्युत बालकगामी है। अतः यहां परस्मैपद होना चाहिये था[1]। दूसरे 'दुरुक्तम्' मन्त्र में 'मे' के स्थान पर 'ते' आना चाहिए था। भाष्यकार गदाधर लिखते हैं कि मेखलाबन्धन आचार्य करते हैं, मन्त्रपाठ यद्यपि पदप्रयोगों से ब्रह्मचारी द्वारा प्रतीत होता है तथापि पदार्थ (=क्रिया) प्रधान है, और मन्त्रपाठ गौण—प्रधानभूतश्च पदार्थः, गुणभूतश्च मन्त्रः। उन्हों ने यह कारिका भी दी है—

"बध्नीयात् त्रिगुणां श्लक्ष्णामियं दुरुक्तमुच्चरन्।
आचार्यस्यैव मन्त्रोऽयं न बटोरात्मनेपदात्॥"

परन्तु 'बध्नीते' के आत्मनेपद से भाष्यकारों के निष्कर्ष के ठीक विपरीत भाव निकलना चाहिए—मेखलाबन्धन ब्रह्मचारी करता है, प्रेरणा आचार्य देता है। ऐसी अवस्था में मन्त्र को क्रिया से गौण मानने की आवश्यकता नहीं रहेगी। सूत्रकारों को क्रिया और उस में विनियुक्त मन्त्रों के अर्थ में एकता नितान्त वाञ्छनीय है। देखो वेभाप० ११।३—४।

११. वर्णम्—उ० ३।१० में इसे √वृ से नित् न प्रत्यय लगा कर बनाया है। दस० की टीका में इस का अर्थ 'यश' भी दिया है। यही अर्थ यहां ग्रहण किया है। सं० चं० ने 'वर्णभाव' अर्थ ग्रहण किया है। इस का आशय है—जिन ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य गुणों की प्राप्ति की कामना से मैं दीक्षित हुआ हूं। मेखला उस गुणग्रहणकामना को पवित्र करती है। विश्वनाथाचार्य ने इस का भाव ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ण अर्थ किया है। मेखला इन तीनों वर्णों को पवित्र करती है। क्यों कि तीनों वर्ण व्रतधारण में मेखलाधारण करते हैं। परन्तु यह अर्थ मन्त्रकार को अभीष्ट रहा प्रतीत

---

१. देखो पा० १।३।७२, ७८; सिकौ० २१५८—९। पाणिनीय धातुपाठ में यह धातु परस्मैपद है।

नहीं होता क्यों कि उस की दृष्टि में प्रजाओं के वेद में वर्णित एक—विश, दो दैवी—मानुष, या, आर्य—दस्यु, या, शूद्र—आर्य आदि विभाग भी थे। उन विभागों की दृष्टि में वे ब्राह्मणादि तक ही अर्थ को सीमित न कर सके होंगे। **प्राणापानाभ्यां बलमादधाना**—शरीर में यद्यपि दस वायुओं की स्थिति मानी गई है, तो भी प्राण=श्वास से अन्दर जाने वाली और अपान शरीर से बाहर निकलने वाली वायुएं ही प्रमुख हैं। इन के ज्ञान में सम्पूर्ण प्राणविद्या निहित है। ब्राह्मणग्रन्थों में इन्हें अश्विनौ[1], अध्वर्यू[2], द्यावापृथिवी[3] आदि कहा गया है। इन दोनों के बलिष्ठ होने पर शरीर भी बलिष्ठ हो जाता है और उस के साथ बुद्धि भी। प्राण और अपान को वश में करने के हेतु ही प्राणायाम किया जाता है। **आदधाना**—आ+√धा +शानच्, स्त्री० प्र० एक व० **स्वसा**—विश्वनाथ—बहन। जयराम-स्वसृवत् हितकारी। संचं० ने इस पद में लुप्तोपमा मानकर 'बहन के तुल्य' अर्थ किया है। उ० २।९६ में इस की व्युत्पत्ति—सुष्ठु अस्यति दी गई है। अर्थात्—जो शैथिल्य, आलस्य आदि को अच्छी प्रकार दूर करती है वह 'स्वसा' है। निघं० २।५।१३ में इसे अंगुलि का पर्याय माना है। अंगुलि कर्म करती हैं, वे गतिशील हैं। इसी प्रकार के पद स्वसराणि को निघं० १।६।५ में अहर्नाम, ३।४।१० में गृहनाम और ४।२।२२ में पदनाम बताया गया है। पदनामों में संकलित पद गति, प्राप्ति और ज्ञान अर्थों के द्योतक हैं। देखो हमारा लेख दयानन्द एण्ड दी निघण्टु ऑफ यास्क। अतः वैदिक ऋषियों को 'स्वसा' का गति अर्थ अभीष्ट है। **देवी**—जयराम—दीप्तिदात्री (=प्रकाश देने वाली)। विश्वनाथ—दानादि गुणयुक्त। **सुभगा**—जयराम —सौभाग्य देने वाली। ऐश्वर्य प्रदान करने वाली, कल्याणकारिणी। भाग्य पूर्वजन्म के कर्मों का फल मात्र है। अतः अनुवाद में कर्मफल देने वाली अर्थ किया गया है। मेखला जड़ वस्तु है, उस में फल देने की शक्ति नहीं।

---

१. श० १२।६।१।१४; २. गो० १।२।१० ३. श० ४।३।१।२२। यहां पर प्राण के साथ उदान का पाठ है।

परन्तु वह कर्म की ओर प्रवृत्ति विशेष की सूचक है जो पूर्वजन्म के संस्कारों से प्रभावित हैं। अतः ऐसा वर्णन किया गया है।

१२. **युवा सुवासाः**—ऋ० ३।८।४। दस० ने अपने भाष्य में तथा सत्यार्थ प्रकाश पृ०, ५३ में इसे समावर्तित युवक के पक्ष में लगाया है। हरदत्त ने ब्रह्मचारी के पक्ष में ही लिया है। वस्तुतः यह मन्त्र अनेक प्रकरणों में संगत हो सकता है और तदनुसार व्याख्यान में भेद किया जा सकता है। मूल पदों के अर्थ में विशेष अन्तर नहीं है। **इति वा**—यह मन्त्र पारस्कर के मत में मौञ्जीबन्धन में वैकल्पिक है। **युवा**—इस का सामान्य अर्थ 'यौवनावस्था को प्राप्त, जवान' होता है। हरदत्त ने इस की व्युत्पत्ति—√यु मिश्रणे। मिश्रणमनुष्ठानम्। अनुष्ठाता। केषाम्। सामर्थ्याद् ब्रह्मचारिधर्माणां समिदाधानभिक्षाचर्यादीनाम्। की है। अर्थात् ब्रह्मचर्य व्रत के कर्मों को करने वाला। जयराम के मत में गुणों को इकट्ठा करने वाला (यौतीति युवा)। अतः नया ब्रह्मचारी जो व्रत का पालन, गुणों और विद्या का ग्रहण करता है। संचं० दृढ़ शरीर वाला। **सुवासाः**—सु शोभनानि वासांसि यस्य सः। जयराम के मत में 'अहत=कोरा' वस्त्र ही शोभन होता है। हरदत्त के मत में शुद्ध-साफ वस्त्र। **परिवीतः**—परि+वि+√इ+क्त। चारों ओर से विशेष रूप से घिरा हुआ, व्याप्त। हरदत्त—कृष्णाजिन आदि से परिवेष्टित। जयराम—माला और आभूषण आदि से सजा हुआ। परन्तु अभी उस ने मेखला और कृष्णाजिन धारण नहीं की हैं। उस की वेशभूषा पूरी नहीं हुई है। अतः यहां पर 'विद्याप्राप्ति की भावना से भरा हुआ' अर्थ ही प्रकरणोचित प्रतीत होता है। **आगात्**—आ+√इ लुङ् प्रथम पु० एक व०। जयराम—मेखला धारण करने के लिए आचार्य के पास आया है। हरदत्त—ब्रह्मचर्य को प्राप्त हुआ है। **श्रेयान्**—हरदत्त विद्या से श्रेष्ठ। जयराम—शुद्ध। संचं०—लोगों का कल्याण करने वाला। कठोप० १।२।२ में श्रेयः और प्रेयः को पृथक्-पृथक् माना है। धीर पुरुष श्रेयः की कामना करते हैं। अभी ब्रह्मचारी न विद्या से श्रेष्ठ हो पाया है न कल्याणकर्त्ता। यद्यपि ये

भविष्य के प्रति कामना मानी जा सकती हैं तथापि कठोप० की परिभाषा में 'श्रेय के ज्ञान का अधिकारी' अर्थ प्रकरणोचित प्रतीत होता है। **जायमानः**—√जन्+शानच्। दस०—प्रसिद्ध हो कर। हरदत्त—ब्रह्मचारी के रूप में उत्पन्न हुआ, क्यों कि स्मृति का वचन है—'तेषां मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जीबन्धनम्।' अथर्ववेद के मत में उपनयन करते हुए आचार्य ब्रह्मचारी को तीन रात तक अपने गर्भ में धारण करता है। उपनयन प्रारम्भ होते ही यह गर्भ या जन्म प्रारम्भ हो जाता है। इसी को वेदमन्त्र ने शानच् प्रत्यय से व्यक्त है।—

"आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः॥" अवे० ११।७।३

इसी से उपनीत व्यक्ति को द्विज या द्विजन्मा कहते हैं। ५वें मन्त्र में ब्रह्मचारी को तप से भी उठता हुआ कहा है—

"पूर्वो जातो ब्रह्मणो घर्मं वसानस्तपसोदतिष्ठत्॥"

ये दोनों ही भाव प्रकरण में अभिप्रेत हैं। अतः हिन्दी अनुवाद में ग्रहण किए गए हैं। **धीरासः**—वेद में पुल्लिंग प्रथमा बहुवचन में देवाः और देवासः दो रूप होते हैं। धी+र (मतुप् के अर्थ में)। प्रज्ञावान्, बुद्धिमान्। जयराम—स्थिरप्रजाः (स्थिरप्रज्ञाः?)। विश्वनाथ—पण्डिताः। संचं०—बुद्धिपूर्वक कार्यकर्त्ता। कालिदास—विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः। ऋ० ४।३३।२ में धीर का लक्षण विद्याग्रहण, बुद्धि आदि के लिए पुष्टि धारण करने वाला किया है—धीरासः पुष्टिमवहन् मनायै (दस०—मन्तव्यायै विद्यायै—√मन् विचारना से)। ऋ० ४।३६।७ में कवि और विपश्चितों को धीर कहा है—'धीरासो हि ष्ठा कवयो विपश्चितस्तान् व एना ब्रह्मणा वेदयामसि'। अतः धीरों को वेदज्ञान की गरिमा से ही पहचाना जाता है। **कवयः**—कौति शब्दयत्युपदिशति स कविः। मेधावी विद्वान्। क्रान्त-दर्शनो वा। (उ० ४।१३९ में दस० का भाष्य)। √कु+इ। तत्त्वदर्शी

विद्वान्। वेदभाष्य में दस०—अनूचानाः विद्वांसः। ब्राह्मण ग्रन्थों में कवि को वेदोपदेशक, ऋषि, बहुश्रुत विद्वान् और आदित्य (ब्रह्मचारी) कहा है। ऋ० १।१६४।६ में कवियों को जानने वाला, विशिष्ट ज्ञानवान् (=चिकितुषः) कहा है। ऋ० ६।३६।१ में कवि के गुण मन्द्र, दिव्य वह्नि (=धारक), विप्रमन्म और मधुवचन दिए गए हैं—"मन्द्रस्य कवेर्दिव्यस्य वह्नेर्विप्रमन्मनो वचनस्य मध्वः ॥" **स्वाध्यः**—दस० (वेदभाष्य)—अच्छी प्रकार विद्या का आधान करने वाले (सु+आ+√धा से)। सप्र०—अच्छे प्रकार ध्यानयुक्त (सु+आ+√ध्यै से)। जयराम—शोभन चित्त की वृत्ति वाले। हरदत्त—कल्याणचित्त। ऋ० १।७२।८ में ऋत के ज्ञाताओं को स्वाध्यः कहा है। ऋ० १।१५१।१ में वाणियों में परा विद्या के जानने के इच्छुक और अध्यापन यज्ञ में कर्मों द्वारा ब्रह्मचारी के मन या प्राणों में ज्ञान उत्पन्न करने वाले 'स्वाध्यः' कहे गये हैं—'मित्रं न शिम्या गोषु गव्यवः स्वाध्यो विदथे अप्सु जीजनन्।' अतः हिन्दी अनुवाद। **मनसा**—दस०—विज्ञान या अन्तःकरण से। जयराम—मनोवृत्ति से। विश्वनाथ—मनोव्यापारों से। **देवयन्तः**—देवं ब्रह्मचारिणः इच्छन्त इति। देव से नामधातु। लौकिक संस्कृत में नामधातु आत्मेच्छा में प्रयुक्त होते हैं। वेद में परेच्छा में भी प्रयोग पाया जाता है। तु० क०—छन्दसि परेच्छायामिति वक्तव्यम्। पा० ३।१।८ पर वार्तिक। जयराम—वेदार्थ ज्ञापन करते हुए। दस० सप्र०—विद्यावृद्धि की कामना युक्त। वेभा०—कामना करते हुए। हरदत्त—देवताओं के लिए यज्ञ करने के इच्छुक अर्थात् श्रौत और स्मार्त कर्मों में लगे हुए मन वाले। संचं०—देवभाव की कामना करने वाले विद्वान्।

युवा सुवासाः का विनियोग

(ii) दस० ने संवि० में इस मन्त्र के उच्चारण के साथ ब्रह्मचारी को आचार्य द्वारा दो कौपीन, दो अंगोछे, एक उत्तरीय और एक कटिवस्त्र दिये जाने का विधान माना है। परन्तु पारस्कर का मत ऐसा नहीं है। वे इस मन्त्र को केवल मेखलाबन्धन में विकल्प रूप से उपस्थित करते हैं।

(iii) श्री शुकदेव लिखते हैं कि इन दोनों मन्त्रों को ब्रह्मचारी पढ़े। यह ठीक नहीं। अर्थ के अनुसार इयं दुरुक्तं आदि को बालक और युवा सुवासः को आचार्य पढ़े।

१३. **तूष्णीं वा**—उपरोक्त दोनों मन्त्रों में से किसी एक का उच्चारण किया जा सकता है। अथवा मेखलाबन्धन बिना किसी मन्त्र का उच्चारण किए ही किया जा सकता है।

१४. **अत्रेति**—यह सूत्र गुजराती प्रेस और पं० शुकदेव के संस्करणों में नहीं है। इस के आगे के 'यज्ञोपवीतम्' आदि मन्त्र से 'दधेऽहमिति (१५–१७) तक कोष्ठकों में उपलब्ध होता है। जयराम लिखते हैं कि पारस्कर ने इन दोनों कर्मों—यज्ञोपवीत धारण और अजिनप्रदान का विधान नहीं किया है। अतः परम्परा से प्रचलित होने से आचार के अविरोध के कारण इन दोनों कर्मों को अन्य शाखाओं के मन्त्रों से सम्पन्न करते हैं। तु० क०—

"यन्नाम्नातं स्वशाखायां परोक्तमविरोधि च।
विद्वद्भिस्तदनुष्ठेयः अग्निहोत्रादि कर्मवत्॥" कात्याय० श्लोक ३०

यज्ञोपवीतम्—जयराम—यज्ञेन प्रजापतिना यज्ञाय वेदोक्तकर्माधिकारायेति वा उपवीतं रचितम्। यज्ञ या वैदिक कर्मों के लिए निर्मित। (√यज्+नङ्। उप+वि+√इ+क्त)। अतः यज्ञ के लिए दीक्षा का द्योतक चिह्न। वैदिक संस्कृत में **यज्ञ** का महत्त्व बड़ा भारी है। यह मानवजीवन के प्रत्येक क्षेत्र में फैला हुआ है। इसी लिए ऋग्वेद के यज्ञसूक्त में कहा है—'यो यज्ञो विश्वतस्तन्तुभिस्ततः। (ऋ० १।१३०।१) यह ही स्वर्ग है और मानव द्वारा सम्पन्न होता है। (मन्त्र २)। ब्राह्मणग्रन्थों में इस के अनेकविधि अर्थ और व्याख्यान किए गए हैं। यथा—प्राण, अध्वर (—हिंसा-रहित), नमः, भगः, ऋत की योनि, महिमा, महान् देव, बृहन् विपश्चित्। अर्यमा, वसु, स्वः, सुख, श्रेष्ठतम कर्म, विट्, ब्रह्म, त्रयी विद्या, प्रजापति, इन्द्र, विष्णु, देवों की आत्मा, अन्न, देवरथ, अग्नि, वाक्, वायु, संवत्सर, सविता, यजमान,

आत्मा, पुरुष; पशु, भुवन की नाभि, अनस्, आपस्, रेतः, विराट्, आहुति आदि। दस० ने अपने भाष्यों में इसी प्रकार के बहुविध अर्थ इस पद के किए हैं। संक्षेप में जिस उत्तम कर्म में देवपूजा (—विद्वानों की सेवा, सत्कार, उन से ज्ञानप्राप्ति आदि), संगतिकरण (—दो पदार्थों, भावों, स्थितियों आदि का सम्मिश्रण) और दान के भाव पाए जाएं वही यज्ञ है। इस दृष्टि से अध्ययन, ब्रह्मचर्यव्रत का पालन आदि यज्ञकर्म होते हैं। ये ही यहां अभिप्रेत हैं। अग्नि में आहुति डालना रूप यज्ञ उपरोक्त प्रकार के यज्ञों का क्रियात्मक ध्यान दिलाने वाली प्रतीक है जो सदैव मानव को परोपकार के लिए अपने जीवन को आहुत करने का सन्देश देती है। यजुर्वेद का अध्याय १८ भी देखें। ऐसे यज्ञ में दीक्षित हुए बिना राष्ट्र का समुचित वहन संभव नहीं। अतः प्रत्येक बालक को उस में उपनीत किया जाता था। इस युग में दस० और आर्यसमाज ने पुनः इस प्रणाली को प्रवृत्त किया है।

१५. **परमम्**—पर आत्मा मीयते ज्ञाप्यते तेन वाक्योपदेशाधिकारित्वात् (जयरामः)—जिस से परम आत्मा का परिचय मिलता है। भाव यह है कि यज्ञोपवीत धारण करने पर बालक ब्रह्मज्ञान के उपदेश का अधिकारी हो जाता है। विश्वनाथ—असाधारण, अत्यधिक। **पवित्रम्**—शोधक, पावन। क्यों कि यह मनुष्य को सत्कर्मों में प्रेरित करता है। अथवा, पवित्र कर्मों का प्रतीक होने से गौणवृत्ति से इस का पावनत्व है। **प्रजापतेः**—जयराम—ब्रह्मणः। ब्राह्मणग्रन्थों में प्रजापति को यज्ञ भी कहा है। प्रकरण में यही अर्थ सब से अधिक समीचीन जान पड़ता है। **सहजम्**—सह जायते, तम्। जयराम—स्वभावशुद्ध। इस अर्थ में प्रजापति में लुप्तोपमा मानने पर अर्थ में विशेष सौंदर्य आ जाता है। प्रजापति का अर्थ 'यज्ञ' करने पर 'सहज' का स्वाभाविक अर्थ 'साथ उत्पन्न' किया जा सकेगा। **पुरस्तात्**—जयराम—पहले से ही उत्पन्न। विश्वनाथ—ब्रह्मा की उत्पत्ति के समय से उत्पन्न। **आयुष्यम्**—आयुषे हितम् आयुष्यम्। आयु। **अग्र्यम्**—अग्रे भवम्। प्रमुख। **प्रतिमुञ्च**—प्रति+√मुच्, लेना, पहनना। उत्तम पुरुष के स्थान

पर मध्यम पु० का प्रयोग हुआ है। शुभ्रम्—निर्मल करने वाला। बल—धर्मसामर्थ्यप्रद।

यज्ञोपवीतं परमं मन्त्र का अर्थ

(ii) इस मन्त्र का संस्कारचंद्रिका का अर्थ कुछ भिन्न है, परन्तु मिलता-जुलता है। वह इस प्रकार है—

"हे बालक (यज्ञोपवीतम्) "यज्ञाय यज्ञकर्मणे—वेदोक्तकर्माधिकारायेति वा उपवीतम्—उपरिवीतम्—परिहितम्" वेदोक्त कर्म में अधिकारी बनने के लिये जो कन्धे के ऊपर रक्खा जाय इस "ब्रह्मसूत्र" को और जो (परमम्) परः आत्मा, मीयते—ज्ञायते अनेन, परमात्मा के ज्ञानप्राप्ति का सूचक है (पवित्रम्) शुद्धि के ज्ञान की सूचना करने वाला (यत्, प्रजापतेः, सहजम्) जो ईश्वर से स्वभावसिद्ध उपदिष्ट है। (पुरस्तात्) पूर्व काल से चला आता है (आयुष्यम्) आयु के लिए हितकारी (अग्र्यम्) मुख्य है, ऐसे इस "ब्रह्म सूत्र" को मैं आज (प्रतिमुञ्च) बांधता हूं (पुरुषव्यत्ययश्छान्दसः) (शुभ्रं यज्ञोपवीतम्) यह निर्मलता का बोधक यज्ञोपवीत (बलम्) बल देने वाला और (तेजः) तेज देने वाला ईश्वर करे कि (अस्तु) होवे। हे ब्रह्मसूत्र (यज्ञोपवीतम्, असि) तू यज्ञोपवीत है (त्वा) तुझे (यज्ञस्य) यज्ञकार्य के लिए ही (ग्रहण करता हूं) और मैं स्वयं आज (यज्ञोपवीतेन) यज्ञोपवीत से (उपनह्यामि) बंधता हूँ।" पृ० ३६५।

श्री शुकदेव ने यहां भी दो आचमनों का विधान किया है।

१६. **अथाजिनम्**—जैसा ऊपर लिखा जा चुका है यह विधि पारस्कर द्वारा प्रोक्त नहीं है। **अजिनम्**—अजति गच्छति क्षिपति वा तत्। उ० २।४८ दस० की टीका। 'चीता, शेर और हाथी आदि का और विशेष कर काले हिरन का रोंए दार चमड़ा।" (संशकौको०)।

(ii) अजिनदान के समय पढ़े जाने के लिए तुरन्त आगे दिये मन्त्र के उत्तरार्द्ध—'वसनम्······अजिनं दधेहम्' से स्पष्ट है कि यह अजिन वस्त्र

रूप में प्रयोग करने के लिए दी जा रही है, पारस्कर वासःपरिधान पहले ही सूत्र ८–६ में करा चुके हैं। अतः यह अजिनदान पूर्वोक्त प्रयोजन से व्यर्थ है। विश्वनाथ के मत में यह अजिन यज्ञोपवीत के पश्चात् (अर्थात्—ऊपर) धारण की जाती है।

१७. **मित्रस्येति**—मितेः दुःखात् त्रायते असौ मित्रः। वेद में देवतावाचक मित्रपद पुल्लिंग है। उ० ४।१६४ में इस की व्युत्पत्ति 'मिनोति मान्यं करोति' दी गई है। सुहृद्-वाचक मित्रपद नपुंसक लिङ्ग में प्रयुक्त होता है। ब्राह्मणग्रन्थों में इस के अर्थ—'सब का मित्र, सत्य का जनयिता और स्वामी, ब्रह्म, क्षत्रपति, अग्नि, प्राण, लोकरक्षक, वायु, संगव, दिन, जलहीन ओषधियां, अपने आप गिरी वृक्षों की शखाएं, पयः, अर्धमास, (=कृष्ण और शुक्ल पक्ष) आदि दिए हैं[1]।

(ii) यजुर्वेद २४।२६ में **एणी** का सम्बन्ध सर्पों से बताया है। **सर्प** के अर्थ देव[2] और लोक[3] हैं। मित्र लोकों का रक्षक है। दूसरी ओर य० ३४।८ में **एनी** को मित्रसम्बन्धी बताया है। अतः अजिन को मित्र की चक्षु के समान वर्णित किया गया है। **चक्षुः**—इस को लुप्तोपमा भी लिया जा सकता है और अजिन का समानाधिकरण विशेषण भी। **धरुणम्**—धारयतीति धरुणम्। √धृ+उनन्। धारण करने वाला। वस्त्र शरीर की गर्मी-सर्दी से रक्षा करने के कारण 'धरुण' कहलाता है। **तेजः**—तेजस्वि के लिए प्रयुक्त हुआ है। अथवा इसे अतिशयोक्ति मान कर 'वसनम्' का विशेषण भी माना जा सकता है। **स्थविरम्**—तिष्ठतीति स्थविरम्। √स्था +किरच्। ठैरने वाला, दृढ़, पक्का। **समिद्धम्**—सम्+√इन्ध्+क्त। प्रदीप्त। **अनाहनस्यम्**—आ+√हन्=आहनम्, तत् आत्मन इच्छतीति आहनस्यम्। न आहनस्यम् अनाहनस्यम्। श्री म० मो० विलियम्ज़ ने इस के अर्थ पवित्र, शुद्ध, शिष्ट दिए हैं। अजिन ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य के व्रत

---

१. वैको० मित्रपद। २. तै० २।२।६।२ ३. श० ७।४।१।२५

का स्मरण दिलाने के कारण पवित्र मानी गई है। जरिष्णु—√जॄ+इष्णुच्। जीर्ण होने के स्वभाव वाला। अर्थात् चिरकाल स्थायी। परि दधे—वैदिक भाषा में प्रधान वाक्यों में उपसर्ग और क्रिया का प्रयोग स्वतन्त्र पदों के रूप में होता है। अतः यहां दोनों एक दूसरे से पृथक् भी हैं और बीच में दो पद भी आए हुए हैं। वाजि—√वज् (जाना)+घञ् = वाजः। वाज+इनि=वाजिन्। नपुं० द्वितीया एक व०। वाज के अर्थ[1] अन्न, वीर्य, ओषधियां, पशु, स्वर्ग लोक, ज्ञान, प्राप्ति आदि होते हैं। अतः वाजि—ज्ञान और शक्ति सम्पन्न। उस से ज्ञान और शक्ति की प्रतीक।

१८. दण्डं प्रयच्छति—दण्डदान का विधान पारस्कर ने अन्य आचार्यों के समान किया है। दण्ड—पद √दम्+ड—दाम्यन्त्युपशाम्यन्त्यनेन स दण्डः। उ० १।११४। शान्त करने वाला। इसे √दण्ड्+घञ् से भी बनाया जा सकता है। यह न्याय और अनुशासन का प्रतीक है। महाभारत में दण्डनीति का युधिष्ठिर और अर्जुन के संवाद के रूप में एक सुन्दर व्याख्यान प्रस्तुत किया गया है। धर्म, तप, व्रत, आदि सब की रक्षा दण्ड से होती है। सामान्य दृष्टि से भी आरण्य जीवन में ब्रह्मचारी को रक्षा के लिए हर समय अपने पास डण्डा रखना आवश्यक था।

(ii) दण्ड देते समय आचार्य कुछ नहीं बोलता है।

(iii) दण्ड की लकड़ी और मान के विषय में आगे सूसं० ८६—९० में पारस्कराचार्य ने स्वयं विवरण प्रस्तुत किया है।

२०. वैहायसः—विशेषण हयति गच्छति, हाययति गमयतीति वा इति विहायाः। (देखो अकोसु० १।२।२; और २।५।३२) तस्य अयमिति वैहायसः। वि+√हय्+असुन्। उस से अण्-प्रत्यय। विशेष रूप से गतिशील। डण्डा स्वयं तो गतिशील नहीं है, परन्तु प्रयोक्ता द्वारा गतिमान् कर दिया जाता है। इस में दण्ड के सब पर प्रभुत्वशाली होने का भाव लक्षित

---

१. देखो वैको० में वाजपद।

हो रहा है। **अधि**—सप्तमी और प्राधान्य का द्योतक है। प्रकरण में यह पद दण्ड की सब पदार्थों में श्रेष्ठता और शक्तिमत्ता का द्योतक है। **भूम्याम्**—भवति इति भूमिः। अकोसु० २।१।२। होने वाले, विद्यमान, सत्ताधारी पदार्थ, स्थिति, भाव आदि। **पुनः**—भाष्यकार जयराम लिखते हैं—'पुनर्ग्रहणात् सोमदीक्षायां यो दण्डो ग्राह्यः तमप्यादद इत्याशंसनम्" अर्थात्—जो डण्डा सोमदीक्षा में ग्रहण किया जाता है उस को भी ग्रहण करता हूं यह भावना 'पुनः' शब्द के प्रयोग से प्राप्त होती है। परन्तु अगले सूत्र 'दीक्षावदेके०' से यह सुव्यक्त है कि पारस्कराचार्य यहां पर ग्रहण किये जाने वाले डण्डे के सोमदीक्षा के डण्डे से सम्बन्ध को प्रशस्त नहीं मानते हैं। अतः यहां पर 'येनेन्द्राय बृहस्पतिः' आदि मन्त्र के समान पूर्व काल के ब्रह्मचारियों की परिपाटी की ओर संकेत मानना उचित प्रतीत होता है। **ब्रह्मवर्चसाय**—जयराम ने इस का अर्थ 'याजनाध्यापनोत्कर्षतेजसे' किया है।

२१. **दीक्षावदिति**—कुछ आचार्यों का विचार है कि जिस प्रकार सोमयाग में दीक्षा लेने वाला डण्डे को चुपचाप ग्रहण कर के कात्यायनश्रौतसूत्रपठित—"उच्छ्रयस्व वनस्पते ऊर्ध्वो मा पाह्यंहस आस्य यज्ञस्योद् ऋचः" (य० ४।१०; का० य० ४।१३) इस मन्त्र को पढ़ कर ऊपर उठाता है, उसी प्रकार यहां भी चुपचाप, बिना 'यो मे दण्डः' आदि मन्त्र को पढ़े दण्डा ग्रहण करे और 'उच्छ्रयस्व वनस्पते' आदि मन्त्र से ऊँचा उठाए[1]।

(ii) इन आचार्यों की युक्ति यह है कि श्रुति का कहना है कि 'दीर्घसत्रं

---

१. शुकदेव वर्मा की टीका में ओ३म् सुसस्याः कृषीस्कृधि। य० अ० ४ म० १०। इस मन्त्र को पढ़ता हुआ रेखा कर 'ओ३म् उच्छ्रयस्व वनस्पत•• •• इस मन्त्र को पढ़ता हुआ रेखा पर दण्ड के मूल को खड़ा कर उसे दाहिने हाथ में ग्रहण करे।' —यह विधान दिया है। तु० क०—भूमौ चोल्लिखति सुसस्या इति मुखसम्मितमौदुम्बरं दण्डं प्रयच्छति उच्छ्रयस्वेत्येनमुच्छ्रयति। तं दक्षिणेनोपधत्ते॥ का० श्रौ० ७।६४–६७।

वा एष उपैति यो ब्रह्मचर्यमुपैति ।' अर्थात् जो ब्रह्मचर्यव्रत को धारण करता है वह दीर्घसत्र में दीक्षित होता है। भाष्यकारों का कहना है कि यहां सोमयाग और ब्रह्मचर्यव्रत दोनों में दण्डधारण किए जाने के कारण ही ब्रह्मचर्यव्रत का दीर्घसत्र से साम्य बताया गया है। अगर ऐसा ही है तो सोमयाग की दीक्षा के समान दण्ड धारण न करना चाहिए, बल्कि 'यो मे दण्डः' आदि मन्त्र के साथ ग्रहण करना चाहिए। भर्तृयज्ञ, कर्क और जयराम के मत में यहां पर दीर्घसत्र का कथन इस लिए किया है कि ब्रह्मचर्यव्रत की अवधि भी बहुत लम्बी होती है। गदाधर लिखते हैं कि दीक्षा के समान दण्डग्रहण के पक्ष में वासुदेव, कारिकाकार और हरिहर हैं।

(iii) कात्यायन श्रौतसूत्र के **'उच्छ्रयस्व'** **आदि मन्त्र** का **अर्थ** यह है—**[वनस्पते]** हे दण्ड, **[ऊर्ध्वः]** (मेरे उठाने पर तुम) ऊँचे **[उच्छ्रयस्व]** उठो। **[मा]** मुझे (आचार्य, शास्त्र आदि के दण्ड का स्मरण करा के) **[अंहसः]** पापों से (और दुष्टों पर प्रहार कर के) विपत्तियों से **[पाहि]** बचाओ। **[आ]** सब ओर से **[अस्य]** इस **[यज्ञस्य]** यज्ञ (के समान मुझे) **[उद्दचः]** तेजस्वी बना दो।

(iv) **वनस्पते**—ब्राह्मणग्रन्थों में इस के अर्थ[1] अग्नि, प्राण, पयोभाजन दिए हैं। अवे० ८।७।१६ में इसे ओषधियों का राजा कहा है। **वन**[2] √वन् से बनता है, जिस के अर्थ 'प्रतिष्ठा करना, पूजन करना, सहायता करना, काम में लगना, खोज करना, मांगना, जीतना, वश में करना, अनुग्रह करना आदि हैं। पति √पा रक्षा करना से निष्पन्न होता है। अतः वनस्पते का प्रयोग यहां साभिप्राय है। कमनीय, सहायक, सम्मानित करने वाला, विजयी आदि भाव यहां अभीष्ट हैं। वेदमन्त्रों में 'वनस्पति' के वर्णन भी ध्यान देने योग्य हैं।

---

१. देखो वैको० में वनस्पति-पद। २. तु० क० वानरपद—वनस्येदं वानं, तद्राति इति वानरः—कमनीय गुणों का धारक। अकोसु० २।५।३ भी देखें।

जल से अंजलि भरना और उस का रहस्य

२२. अथास्येति—जलों से अपनी अंजलि भर कर उस के जल को ब्रह्मचारी की अंजलि में छोड़ता है। ब्राह्मणों में '**आपः**' के अर्थ 'सब कामनाओं के प्रापक, तप्त पुरुष से उत्पन्न, प्राण, अमृत, शान्ति, ओषधीनां रसः, सत्य में प्रतिष्ठित, श्रद्धा, मेध्य, अन्न, रक्षोघ्नी, वज्र, वीर्य, अर्क, द्यौः, यज्ञ, रेतस्, पशवः, सर्वे देवाः, देवानां प्रियं धाम, शूद्रों का भक्ष, योषा' दिए हैं। इस अञ्जलिपूरण क्रिया में इन अर्थों के अनुरूप भाव अभिप्रेत हैं। इस क्रिया द्वारा आचार्य ब्रह्मचारी को शुद्ध और सत्य भाव से ब्रह्मचारी को श्रद्धान्वित सत्य का अभिलाषी आदि समझ कर सम्पूर्ण ज्ञान दे कर उसे सब कामनाओं को प्राप्त करने में समर्थ, अमृत, शान्ति, सप्राण, रसयुक्त (तु० क० अवे० ५।१६।१—११) सत्य में प्रतिष्ठित, श्रद्धावान्, मेध्य अन्नवान्, रक्षोहा, वज्रवत्, वीर्यवान् आदि बनाने की प्रतिज्ञा करता है। वह ब्रह्मचारी को अपना समस्त ज्ञान आदि उसी प्रकार सम्पादित करेगा जिस प्रकार जल एक अञ्जलि से दूसरी में चला जाता है। इस क्रिया में 'पुत्रात् शिष्यात् वा पराजयेत' का भाव भी लक्षित होता प्रतीत होता है।

(ii) संचं० का विचार है कि यहां पर आचार्य यह भावना प्रकट करता है कि ब्रह्मचारी की अंजलि कभी भिक्षान्न से खाली न रहे और आचार्य भिक्षा में प्राप्त अन्न को सहर्ष ब्रह्मचारियों को देगा। यह भाव भी अच्छा है परन्तु सार्वकालिक और सार्वदेशिक नहीं है।

२३. आपो हि ष्ठेति—इन तीन मन्त्रों के अर्थ ये हैं—

आपो हि ष्ठा (य० ११।५०)—[हि] निश्चय से [आपः] जल [मयोभुवः] सुखकर [स्थ] हैं। [ताः] वे [नः] हमें [ऊर्जे] अन्न (और) [महे] महान् [रणाय] आनन्ददायक [चक्षसे] ज्ञान के लिए [दधातन] धारण करें ॥१॥

(ii) भाव यह है कि जल शान्ति, सत्य, पवित्रता, अन्न यज्ञ और ज्ञान आदि के प्रतीक हैं। उन से हम अन्न, ज्ञान और सुख प्राप्त करने में गतिशील होने की प्रेरणा लेते रहें।

यो वः शिवयमः (य० ११।५१) का अर्थ

(iii) [**वः**] (हे जलो) आप का [**यः**] जो [**शिवतमः**] परम कल्याणकारी [**रसः**] रस (=सार) है, [**इह**] यहां [**नः**] हम को [**तस्य**] उस (रस) का [**उशतीः**] कामना करती हुई-(अर्थात्—प्रेममयी) [**मातरः**] माताओं के समान [**भाजयत**] भागी बनाओ ॥२॥

तस्मा अरं गमाम (य० ११।५२) का अर्थ—

(iv) [**यस्य**] जिस (अज्ञान, पाप और अभाव आदि) के [**क्षयाय**] नाश करने के लिए (आप हमें) [**जिन्वथ**] गतिशील करते हैं [**तस्मै**] उस (अज्ञान आदि के नाश) के लिए (हम) [**वः**] आप को [**अरम् गमाम**] पूर्ण रूप से प्राप्त होते हैं। [**च**] और [**आपः**] जल [**नः**] हम को [**जनयथ**] (ज्ञान आदि से सम्पन्न) कर दें ॥३॥

(v) **महे**—महते। महान्, भारी, पुष्कल। **रणाय**—रमणीय, आनन्ददायक। **चक्षसे**—√चक्ष्+असुन्। देखने के लिए, अतः ज्ञान के लिए। **रसः**—वस्तु का सार ही रस कहलाता है। **भाजयत**—√भज् से णिजन्त लोट् मध्यम पुरुष बहु व०। भागी बनाओ, प्राप्त कराओ, अधिकारी बनाओ। **उशतीः**—√वश्+शतृ+ङीप्+स्त्री० प्रथमा बहु व०। वैदिक रूप। चाहती हुई, अतः स्निग्ध। **क्षयाय**—निवास और नाश-दोनों अर्थों में इस की योजना की जा सकती है। दस० और संच० ने निवास अर्थ लिया है। सा० ने नाश। **जिन्वथ**—लौकिक भाषा में यह तृप्त्यर्थ में आता है। निघं० २।१४।८६ में यह गतिकर्मा है और निघं० ४।३।१०२ में पदनाम है। अतः इस के गति, ज्ञान और प्राप्ति—अर्थ होते हैं[1]। विको० भी देखें। **जनयथ**—सायण आदि ने इस का अर्थ प्रजा से समृद्ध करना

---

१. देखो हमारा लेख—दयानन्द एण्ड दी निघण्टु ऑफ यास्क, तथा वेभाप० ३०।२-४६।

लिया है। परन्तु यह प्रकरण में उतना उपयुक्त नहीं है जितना हिन्दी अनुवाद का अर्थ।

२४ सूर्यमुदीक्षयति—सूर्य का दर्शन कराता है। सूर्य को चराचर की आत्मा माना है—'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च[1]।' वह देवों का विचित्र अनीक है, और मित्र, वरुण और अग्नि का चक्षु है। —"चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः[2]।" ब्राह्मणग्रन्थों में सूर्य के अर्थ आदित्य, बृहन्, इन्द्र, पूषा, सविता, धाता, ब्रह्मणस्पति, पिता, भर्ता, गोपा, नृषत्, यम, परोरजाः, वाजपेय आदि दिए हैं। सूर्य का दर्शन इस प्रकार के गुणों के ग्रहण करने की भावना धारण करने तथा चिरायु की कामना के लिए कराया जाता है।

तच्चक्षुर्देवहितं (य० ३६।२४) का अर्थ

२५. तच्चक्षुरिति—इस मन्त्र का अर्थ यह है—[देवहितम] विद्वानों को (आरोग्य प्रदान आदि और अनुभूति देने के कारण) हितकर [तत्] वह (मित्र, वरुण और अग्नि अथवा लोक[3] की) [शुक्रम्] स्वच्छ, तेजस्वी, शुभ्र [चक्षुः] (देखने का साधन होने से) आंख (के सदृश) [पुरस्तात्] पूर्व दिशा में [उच्चरत्] उदित है। (उस की सहायता से अथवा उस को हम) [शतम्] सौ [शरदः] वर्षों तक [पश्येम] देखते रहें [शतम्] सौ [शरदः] वर्षों तक [जीवेम] जीवित रहें, [शतम्] सौ [शरदः] वर्षों तक [शृणुयाम] सुनते रहें, [शतम्] सौ [शरदः] वर्षों तक [प्रब्रवाम] बोलते रहें, [शतम्] सौ [शरदः] वर्षों तक [अदीनाः] स्वतन्त्र और समृद्धिसम्पन्न [स्याम] रहें [च] और [शतात्] सौ [शरदः] वर्षों से भी [भूयः] अधिक (देखते, जीते, सुनते, बोलते और अदीन रहें)।

---

१. ऋ० १।११५।१ २. वही। ३. ब्राह्मणों में मित्र आदि को 'लोक' भी बताया गया है। देखो श० ६।५।४।१४, तां १४।२।४, श० १२।६।२।१२ और श० १४।६।१।१४।

(ii) सूर्य ब्रह्म की शक्ति से संचालित होने के कारण उस का प्रतीक है। सूर्य-पद स्वयं ब्रह्म का भी द्योतक है। अतः दस० ने पञ्चमहायज्ञविधि में इस का अर्थ ब्रह्मपरक किया है। सा०, उवट और महीधर ने सूर्यपरक लगाया है। उवट ने देवहितम् का अर्थ 'देवताओं द्वारा स्थापित' किया है। इस प्रकरण में इसे सूर्यपरक लगाना ही उचित है। हाँ, उस के साथ-ही-साथ ब्रह्मपरक अर्थ की योजना भी आवश्यक है। तब ही इस क्रिया का पूर्ण अभिप्राय सिद्ध होता है। अतः **दस० का अर्थ** यहां उद्धृत किया जाता है—

(iii) "जो ब्रह्म सब का द्रष्टा धार्मिक विद्वानों का परम हितकारक तथा सृष्टि के पूर्व, पश्चात् और मध्य में सत्य स्वरूप से वर्तमान रहता और सब जगत् का करने वाला है उसी ब्रह्म को हम लोग सौ वर्ष पर्यन्त देखें, जीवें, सुनें, उसी ब्रह्म का उपदेश करें, और उस की कृपा से किसी के आधीन न रहें। उसी परमेश्वर की आज्ञापालन और कृपा से सौ वर्षों के उपरान्त भी हम लोग देखें, जीवें, सुनें, सुनावें और स्वतन्त्र रहें अर्थात् आरोग्य शरीर, दृढ़ इन्द्रिय, शुद्धमन और आनन्द सहित हमारी आत्मा सदा रहे।"

२७. **मम व्रते मन्त्र का संवि० में दस० का अर्थ** यह है—"हे शिष्य बालक तेरे हृदय को मैं अपने आधीन करता हूं। तेरा चित्त मेरे चित्त के अनुकूल सदा रहे और तू मेरी वाणी को एकाग्र मन हो प्रीति से सुन कर उस के अर्थ का सेवन किया कर और आज से तेरी प्रतिज्ञा के अनुकूल बृहस्पति, परमात्मा तुझ को मुझ से युक्त करे। इसी प्रकार शिष्य भी आचार्य से प्रतिज्ञा करावे कि हे आचार्य! आप के हृदय को मैं अपने कर्म अर्थात् उत्तम शिक्षा और विद्या की उन्नति में धारण करता हूँ मेरे चित्त के अनुकूल आप का चित्त सदा रहे। आप मेरी वाणी को एकाग्र हो के सुनिये और परमात्मा मेरे लिये आप को सदा नियुक्त रक्खे।" पृ० ८५

(ii) **व्रते**—व्रत का अर्थ नियम, शासन आदि भी होता है। वही यहां अभिप्रेत है। दस० ने य० ४।११, और १६।३६ में यही अर्थ लिया है **ते हृदयं दधामि**—जब तक बालकों का आचार्य के नियमों के प्रति आदर

भाव न हो, तब तक वे उन का पालन सम्यक् प्रकार से नहीं करते हैं। **चित्तम्**—√ चित् जानना से। इस का अर्थ 'मन, हृदय' भी किया जाता है। परन्तु यह भाव प्रथम पाद में आ चुका है। इस समस्त संस्कार में ज्ञान ही प्रधान विषय है। अतः यहां पर 'ज्ञान' अर्थ ही लिया गया है। **नियुनक्तु**—भाव यह है कि शिक्षाकाल में तुम निरन्तर मुझ से शिक्षा ग्रहण करते रहो, उस में प्रमाद और व्यवधान न हों।

२८. **आथास्य**—पा० भे०। सामान्यतः 'अथ' का प्रारम्भ में प्रयोग होता है। इस दृष्टि से यह पाठ ठीक नहीं है। इसे आ और अथ की सन्धि भी माना जा सकता है। इस पदच्छेद में 'आ' की अर्थ में कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है। इसे 'गृहीत्वा' के साथ ही लगाया जा सकता है। सूसं० ३० में भी यही स्थिति है। वहां पर 'आ' को 'आह' से सम्बद्ध करना होगा। **हस्तं गृहीत्वा**—इस से आचार्य की ब्रह्मचारी के प्रति आत्मीयता प्रकट होती है। **को नामासि**—कः नामा असि। नाम अस्य अस्तीति नामा। कौन नामवाले हो—किस नाम के हो—क्या नाम है। नाम का मानव के मस्तिष्क पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। नाम पूछने से परिचय बढ़ता है और उस नाम के अर्थ का भाव अंकित होता है। '**क**' सुख का भी द्योतक है और प्रजापति का भी। दोनों ही अर्थों को संकेतित करने के लिए इस प्रकार की रचना की गई है—तुम सुखमय प्रजापति के सदृश किस नाम वाले हो।

२९. **असावहम् भो३**—इस के अन्त में ब्रह्मचारी अपने नाम का उच्चारण करे।

३१. **इन्द्रः**—जयराम इसे √इदि परमैश्वर्ये से व्युत्पन्न कर इस का अर्थ 'प्रजापति' करते हैं। ब्राह्मणग्रन्थों में इस पद के अर्थ 'सूर्य, आदित्य, वाक्, वायु, प्राण, हृदय, मन, यजमान, राजन्य, क्षत्र, अशनि, स्तनयित्नु, ब्रह्म, प्रजापति, वीर्य, वृषा, रेतः, उद्गाता, अंहोमुक्, अश्व आदि दिए हैं। यह ऋग्वेद के धर्म में प्रमुख देवता है। इसे विभिन्न प्रकार से व्युत्पन्न किया

गया है। ऋ० १।१३६।६ में इन्द्र 'अग्नि का विशेषण है। पुनरुक्त ऋगंशों में इस का तादात्म्य अग्नि, इन्दु, सोम और विष्णु से पाया जाता है। देखो वेभाप० ४।१४६–१५०, परिशिष्ट ७।७–१०,१३। अतः यहां 'इन्द्र' का प्रजापति अर्थ समीचीन जान पड़ता है। वैए० में इन्द्रपद भी देखें। **अग्निः**—भाष्यकारों को अग्नि का अर्थ करने में समस्या रही प्रतीत होती है। सम्भवतः इसी कारण उन्हों ने इस का कोई अर्थ नहीं दिया। जब इन्द्र का अर्थ प्रजापति कर दिया गया और बालक को उस का ब्रह्मचारी बताया गया तब 'अग्नि' को प्रथम आचार्य कहने से स्पष्ट कर दिया गया कि यहां अग्नि और इन्द्र का अर्थ एक ही है—प्रजापति। इन्द्र ऐश्वर्य आदि का द्योतक है, अग्नि अग्रणीत्व, अज्ञाननिरोधक, पापनाशक आदि का। इस पद के ब्राह्मणग्रन्थों के अर्थ रुद्र, अर्क, पशवः, शिर, देवों की आत्मा, आत्मा, वाजानां पतिः, प्रजाओं का प्रजनयिता, पृथिवी, संवत्सर, वाक्,तेजः, रक्षोहा, तपः, मन, प्राण, ब्रह्म, देवानां गोपाः, ऋत, भर्गः, यम, विराट् आदि दिये हैं। दस० ने इस के भौतिक और आध्यात्मिक—दो पक्ष माने हैं। दूसरे पक्ष में इस का अर्थ 'परमात्मा' किया है। इसे ऋग्वेद में 'एकं सत्' भी कहा है (ऋ० १।१६४।४६)। ब्राह्मणों में ऋग्वेद की उत्पत्ति अग्नि से बताई गई है। ऋक्, साम और यजुः को वाक् कहा गया है। अग्नि वाक् भी है। अतः यह वेदज्ञान का भी द्योतक है। वैसे भी निघं० ५।१।१ में इसे पदनामों में पढ़ कर इस का 'ज्ञान'—अर्थ यास्कमुनि ने प्रतिपादित किया है। **आचार्य**—"जो सांगोपांग वेदों के शब्द अर्थ सम्बन्ध और क्रिया को जानने हारा छलकपट रहित, अतिप्रेम से विद्या का दाता, परोपकारी, तन मन धन से सब को सुख बढ़ाने में जो तत्पर, महाशय, पक्षपात किसी का न करे और सत्योपदेष्टा सब का हितैषी धर्मात्मा जितेन्द्रिय होवे।" दस० संवि० पृ० ८० (पाटि०)। ऋभाभू० में लिखते हैं—"आचार्य उस को कहते हैं कि जो असत्याचार को छुड़ा के सत्याचार का और अनर्थों को छुड़ा के अर्थों का ग्रहण कराके ज्ञान को बढ़ा देता है।" पृ० ३०४।

भाष्यकार हरिहर ने आचार्य का यम के अनुसार यह लक्षण दिया है—

"सत्यवाक् धृतिमान् दक्षः सर्वभूतदयापरः ।
आस्तिको वेदनिरतः शुचिराचार्य उच्यते ॥
वेदाध्ययनसंपन्नो वृत्तिमान् विजितेन्द्रियः ।
न याजयेद् वृत्तिहीनं वृणुयाच्च न तं गुरुम् ॥"

मनुस्मृति में आचार्य का लक्षण यह है—

"उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः ।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥" २।१४०।

परन्तु शूद्रक और कालिदास के समय तक इस के ये अर्थ बदल चुके थे और किसी भी विषय में पारंगत व्यक्ति को आचार्य कहा जाने लगा था। यहां पर आचार्य का प्राचीन अर्थ ही अभिप्रेत है।

३२. **भूतेभ्यः**—√भू होना+क्त, ४ थी बहु०। सत्ताधारियों के लिए। जो कुछ भी उत्पन्न हो चुका है—चाहे भूत काल में हो चाहे वर्तमान काल में वह सब 'भूत' कहलाता है। अतः पृथिवी आदि लोक और उन में विद्यमान समस्त पदार्थ भूत कहलाते हैं। प्रजापति, प्रजा, वायु आदि तत्त्व सब कुछ भूत हैं। इस में आधुनिक काल में प्रचलित भूतप्रेत की भावना नहीं है। इस प्रकार की भावना वैदिक साहित्य में उपलब्ध होती ज्ञात नहीं है। मृत व्यक्तियों की भूत संज्ञा तो है, परन्तु वे मनुष्य को दुःख देने वाले के रूप में नहीं है। जैसा गदाधर ने लिखा है यहां 'भूतेभ्यः' का विस्तार प्रजापति आदि आगमी मन्त्र (सूसं० ३३) में वर्णित पदार्थ आदि हैं। **परिददाति**—परि+√दा का अर्थ सम्यक् रूप से देना है। पदार्थों के लिए देने का भाव पदार्थों का उपयोग करना है।

३३. **प्रजापतये**—प्रजानां पतिः। प्रजाओं का पालक। ब्राह्मणग्रन्थों में इस के अर्थ अग्नि, इन्द्र, हृदय, मन, वाक्, वाचस्पति, संवत्सर, यज्ञ, अश्वमेध, विश्वजित्, सविता, प्राण, अन्न, वायु, प्रणेता, भूत, बन्धु, हिरण्यगर्भ,

ब्रह्मा, सोम, चन्द्रमा, दक्ष, मनु, वसिष्ठ, विश्वकर्मा, व्योम आदि दिए हैं। इन अर्थों में से सभी उपयुक्त अर्थ ग्रहण किए जा सकते हैं। अन्य अर्थों के लिये देखो वैको०। **देवाय**—देव शब्द √दिव् से बनता है जिस के अर्थ क्रीड़ा, विजिगीषा, व्यवहार, द्युति, स्तुति, मोद, मद, स्वप्न, कान्ति और गति हैं। जिस-जिस पदार्थ, भाव और स्थिति में इन में से एक या अनेक अर्थ संगत होते हों वह-वह पदार्थ आदि देव या देवता कहलाते हैं। विस्तार के लिये देखो वेभाप० ६।३१–४२ तथा हमारा लेख—महर्षि दयानन्द सरस्वती और देवता शब्द का अर्थ (ऋग्वेद का धर्म तथा अन्य लेख में संकलित)। **सवित्रे**—शब्दार्थ—उत्पादक। √सु+तृच्। ब्राह्मणग्रन्थों में सविता के अर्थ प्रसविता, देवानां प्रसविता, आदित्य, सूर्य, अग्नि, प्रजापति, वरुण, विद्युत्, स्तनयित्नु, वायु, चन्द्रमा, यज्ञ, अभ्र, वेदाः, अहः, पुरुष, पशु, प्राण, मन, यकृत्, राष्ट्रपति, हिरण्यपाणि आदि दिए हैं। **द्यावा-पृथिवीभ्याम्**—द्युलोक और पृथिवीलोक। ब्राह्मणग्रन्थों में इस के प्राण और उदान, देवताओं के हविर्धान अर्थ भी मिलते हैं। **विश्वेभ्यः देवेभ्यः**—जैसा 'देव' पद के ऊपर के व्याख्यान से स्पष्ट होगा इस पद का अर्थ ब्रह्माण्डस्थ समस्त पदार्थ होता है। ब्राह्मणग्रन्थों में इस के अर्थ 'समस्त विद्वान्, सूर्य की किरणें, प्राण, ऋतुएं, श्रोत्र, दिशाएं, विट्, प्रजा, पशु, अन्न, गो आदि मिलते हैं तथा वहां इन्हें अनन्त कहा है। **अरिष्ट्यै**—न रिष्टिः अरिष्टिः, तस्यै। √रिष् हिंसायाम् से। रिष्टि—हिंसाप्राप्त स्थिति, दुःख, अमंगल। अरिष्टि—सुख, कल्याण।

३४. **प्रदक्षिणम्**—प्रगतं दक्षिणम् इति। दक्षिण की ओर की हुई (अग्नि)। इसे परीत्य का क्रियाविशेषण भी माना जा सकता है। भाव यह है कि प्रदक्षिणा कर के अग्निकुण्ड के पश्चिम में और आचार्य के उत्तरपूर्व की ओर मुख कर के बैठे। आचार्य दक्षिण की ओर बैठता है। **अग्निम्**—यज्ञ कुण्ड में जलती हुई अग्नि। पवित्र वस्तुओं को दाहिनी ओर रखते हुए उन के चारों ओर घूमना (=परिक्रमा करना) कल्याणकर समझा जाता है। **परीत्य**—परि+√ई+ल्यप्।

३५. **अन्वारब्ध**—अनु+आ+√रभ्+क्त। भाष्यकारों ने इसे प्रथमा एक व० मान कर 'ब्रह्मा से आरम्भ कराए गए कर्म वाला आचार्य (जयराम) अथवा ब्रह्मचारी द्वारा आरम्भ कराए गए कर्म वाला (आचार्य) (विश्वनाथ), ब्रह्मा से छुए हुए घृत (की आहुतियां) (शुकदेव)' अर्थ किए गए हैं। अब तक अन्य क्रियाएं चालू थीं। यज्ञ बन्द था। आहुति देने के लिए यज्ञकर्म प्रारम्भ होना आवश्यक था। अतः इस पद को सप्तमी एक व० मान कर 'यज्ञे' का अध्याहार करने पर अर्थ प्रकरणोचित हो जाता है। **आज्याहुतीः**—दस० ने २२ आहुतियों का विधान किया है। विश्वनाथ का विवरण—'आघारावाज्यभागौ महाव्याहृतयः सर्वप्रायश्चित्तं प्रायश्चित्तं स्विष्टकृच्च' है। **प्राशनान्ते**—भाष्यकारों ने संस्रवप्राशन का वर्णन किया है। महीधर ने संस्रव का अर्थ 'विलीन आज्य' किया है। दस० ने होम में छोड़े हुए घृत आदि पदार्थ समझा है (य० २।१८)। अतः यज्ञशेष। **संशास्ति**—ब्रह्मचर्य के नियमों का उपदेश करते हैं। दस० ने संवि० पृ० ६२–६३ में इन सूत्रों के साथ कुछ अन्य सूत्र भी दिए हैं।

३७. **अशान**—√अश् से लोट् मध्यम पु० एक व०। खाओ, अर्थात् पीओ।

(ii) श्री शुकदेव ने छान्दोग्य,ब्रा० उ० प्र० ५ ख० २ मं० २—'सा होवाच किं मे वासो भविष्यतीत्याप इति। होचुस्तस्माद्वा एतदशिष्यन्तः पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्चाद्भिः परिदधीत लम्भुको ह वासो भवत्यनग्नो ह भवति।' को उद्धृत करते हुए लिखा है कि आरम्भ और अन्त में भोजन को आचमन कर के वस्त्रवत् वेष्टित कर देना चाहिए क्यों कि उस के प्रश्न पर इन्द्रियों ने प्राण से कहा था कि जल ही उस के वस्त्र होंगे।

३८. **कर्म**—ब्रह्मचर्यव्रत और ज्ञानोपार्जन के लिए उपयुक्त कर्म। संचं०—दुष्ट कर्म छोड़ धर्म किया कर।

३९. **दिवा**—दिन में सोने से आयु का ह्रास, आलस्य की वृद्धि, पठन में व्यवधान आदि अनेकों दोष पाए जाते हैं।

४१. **समिधम्**—भाव यह है कि प्रतिदिन यज्ञ किया करो और उस से अनुभूति लो।

सावित्री का उपदेश

दस० आदि के मत में यहां से आगे वेदारम्भ संस्कार है।

४२. **सावित्रीम्**—सवितृ देवता है जिस का ऐसी ऋचा। सामान्यतः गुरु द्वारा शिष्य को सिखाए जाने वाले गायत्री मन्त्र को ही सावित्री' कहते हैं।

उपदेश के योग्य ब्रह्मचारी के गुण

उत्तरतोऽग्नेः—प्रारम्भ में बालक पश्चिम की ओर पूर्वाभिमुख बैठा था। अब वह उत्तर की ओर आ कर बैठा है। **प्रत्यङ्मुखाय**—अब उस का मुख पश्चिम की ओर है। **उपविष्टाय**—उप + √ विश् + क्त। सामान्यतः खड़े हुए बालक को उपदेश ग्रहण करने में पर्याप्त असुविधा होती है। फिर भी आगे सूसं० ४४ में 'खड़े हुए' को भी उपदेश देने का वर्णन है। **उपसन्नाय**—उप + √सद् + क्त + चतुर्थी एक व०। समीप आए हुए। **शुकदेव**—प्रसन्नचित्त। **समीक्षिताय**—सम् + √ईक्ष् + क्त + चतुर्थी एक व० पु०। परीक्षित, परखे हुए। **समीक्षमाणाय**—सम् + √ईक्ष् + शानच् + चतुर्थी एक व० पु०। अच्छी प्रकार देखते हुए। इस के दो भाव हो सकते हैं—१. शान्त चित्त हो कर शिक्षा प्राप्त करने के लिए गुरु के मुख की ओर देखने वाले २. सुने हुए उपदेश या पाठ पर तर्क-वितर्क द्वारा विचार करने वाले। हिन्दी अनुवाद में पहला अर्थ लिया गया है, परन्तु दूसरा अर्थ प्रकरण में अधिक संगत होता है। तु० क० "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।" बृआउ०। तथा—"तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया वा।"

(ii) प्राचीन भारतीय संस्कृति में विद्यार्थी में श्रद्धा, शान्ति और ब्रह्मचर्य आदि गुणों का होना परम आवश्यक माना गया है—

१—क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः स्वयं जुह्वत एकर्षिं श्रद्धयन्तः।
तेषामेवैषां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद् यैस्तु चीर्णम्॥ मुउ० ३।२।१०

तथा—तस्मै स विद्वान् उपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय। मु० उ० १।२।१३।

२–नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्रायाशिष्याय वा पुनः।
यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥ श्वे० उ० ६।२२–२३

३–असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती यथा स्याम्।

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्।
यस्ते न द्रुह्येत् कतमच्चनाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन्॥ नि० २।४

श्री शुकदेव ने यहां गुरु के पैर छूने का विधान माना है। पारस्कर को यह विधि मान्य प्रतीत नहीं होती।

४४. दक्षिणतः—अग्नि के दक्षिण में। यह कुछ आचर्यों का मत है।

४५. पच्छः—पद्+शस्। पादं पादमिति पच्छः, पदशो वा। पहले एक-एक पाद (ॐ भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यम्) पढ़ाए। अर्द्धर्चशः—ऋचः अर्धमिति अर्धर्चम्। अर्द्धर्चम् अर्द्धर्चमिति अर्द्धर्चशः। आधी-आधी ऋचा (ॐ भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि) कर के। सर्वां च—तीसरी बार में सम्पूर्ण मन्त्र (ॐ भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥) को एक साथ आचार्य के अनुकरण पर उच्चारण करे। यहां पर प्रणव (=ओ३म्) और व्याहृतियों (भूः, भुवः स्वः) के साथ मन्त्र पढ़ा जाना अभीष्ट है। अनुवर्तयन् अनु+√वृत्+णिच्+शतृ+पु० प्रथमा एक व०।

सावित्री के उपदेश का कालपरिमाण—

४६. षाण्मास्ये—षडेव मासाः षाण्मास्यम्, तस्मिन्। षाण्मास्ये पाठ में वृद्ध्यभाव को छान्दस मानना पड़ेगा।

(ii) हरिहर भाष्यकार के विचार में काल की यह अवधि क्षत्रिय और वैश्य बालकों के लिए है। जो गुरुशुश्रुषा आदि गुणों में जितना कम होगा उतना ही समय अधिक लगेगा। परन्तु यहां पर गुरु की ज्ञानगरिमा और शिष्य की योग्यता और ग्रहणशक्ति ही इस कालविभाग का करण प्रतीत होते हैं।

(iii) पं० शुकदेव का विचार है कि इन कालों में बालक को ब्रह्मचर्य का उपदेश कर के गायत्री सिखाए। इस में वे बालक में योग्यता उत्पन्न कर के उपदेश देना चाहते हैं।

४७. **सद्यः**—ब्राह्मण बनने योग्य ब्रह्मचारी के गुण अधिक होने अनिवार्य हैं। अतः वह तीव्रबुद्धि और वेदज्ञान का पिपासु होने से गायत्री के शिक्षण को शीघ्र ग्रहण कर सकेगा। गायत्री का अध्यापन अर्थ-सहित ही अभीष्ट है। **गायत्रीम्**—ऋषि, देवता और छन्द तथा स्वरों के परिज्ञान के साथ गायत्री। वैदिक वाङ्मय में गायत्री की बड़ी महिमा है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में गायत्री के अर्थ—प्राणों का रक्षक, पृथिवी, प्राण, अग्नि, ब्रह्म, ब्रह्मवर्चस्, तेज, ज्योति, वीर्य, शिर, मुख, प्राची दिक्, यज्ञ, पुरुष आदि दिये हैं। य० २८।२४–३४ में गायत्र एक दार्शनिक परिभाषा है। य० १०।११ में गायत्री को प्राची दिशा में रक्षक बताया है। य० १४।१० में यह 'पंचाविर्वयः' का द्योतक है। ऋ० १०।१३०।४ में इस की उत्पत्ति अग्नि से मानी गई है। अतः जो वेद में वर्णित अग्नि के गुणों से सम्पन्न हो उसे गायत्री का ज्ञान तुरन्त हो सकता है। यह भाव 'आग्नेयो वै ब्राह्मणः' (तै० २।७।३।१) में व्यक्त किया गया है। अग्नि का विशेष गुण ज्ञानशीलता है। यह गुण **अग्नि के विशेषणों**—कविक्रतु, जातवेदस्, अंगिरः, विश्ववेदस्, कवि, ऋषि, कण्वतम, चिकित्वान्, चेकितान, चेतिष्ठ, प्रकेतः, प्रचेताः, प्रजानन् और बृहस्पति' आदि में परिलक्षित होता है।

गायत्री मन्त्र और उस का दस० का अर्थ

(ii) गायत्री मन्त्र यह है—ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥

(iii) इस का सविस्तार अर्थ दस० ने सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास और पञ्चमहायज्ञविधि में दिया है। ऋ० ३।६२।१०, य० ३६।३ में भी इस का अर्थ मिलता है। यहां पर संस्कारविधि का अर्थ संसक्त और सुगमतर होने से दिया जाता है।

(iv) (ओ३म्) यह मुख्य परमेश्वर का निज नाम है जिस नाम के साथ अन्य सब नाम लग जाते हैं। (भूः) जो प्राण का भी प्राण, (भुवः) सब दुखों से छुड़ाने हारा, (स्वः) स्वयं सुखस्वरूप और अपने उपासकों को सब सुख की प्राप्ति कराने हारा है उस (सवितुः) सब जगत् की उत्पत्ति करने वाले, सूर्यादि प्रकाशकों के भी प्रकाशक, समग्र ऐश्वर्य के दाता, (देवस्य) कामना करने योग्य, सर्वत्र विजय कराने हारे परमात्मा का जो (वरेण्यम्) अति श्रेष्ठ ग्रहण और ध्यान करने योग्य, (भर्गः) सब क्लेशों को भस्म करने हारा, पवित्र, शुद्ध स्वरूप है (तत्) उस को हम लोग (धीमहि) धारण करें (यः) यह जो परमात्मा (नः) हमारी (धियः) बुद्धियों को उत्तम गुण कर्म स्वभावों में (प्रचोदयात्) प्रेरणा करे।

आधुनिक शैली पर गायत्री का अर्थ

(v) अधुनिक अर्थप्रप्रणाली में एक पद का एक ही रूढ़िगत अर्थ ग्रहण किाया जाता है। परन्तु वैदिक शैली इस से नितान्त भिन्न है। देखो हमारा ग्रन्थ 'वेदभाष्यपद्धति को दयानन्द सरस्वती की देन।' उपरोक्त अर्थ वैदिक शैली पर है। आधुनिक शैली पर ग्रिफिथ महोदय का अनुवाद इस प्रकार है—'हमें सवितृ देव की वह उत्तम महिमा प्राप्त हो जाए जिस से वह हमारी प्रार्थनाओं को प्रगति दे सके।'

(vi) ओ३म्—यह प्रणव भी कहलाता है। उपनिषदों और गीता में इसे ईश्वर विषयक समस्त ज्ञान का सार कहा है। यह परमात्मा का उत्कृष्ट नाम माना जाता है। इसे √अव रक्षणगतिकान्तिप्रीतितृप्त्यवगमप्रवेश-श्रवणस्वाम्यर्थयाचनक्रियेच्छादीप्त्यवाप्त्यालिंगनहिंसादानभागवृद्धिषु से व्युत्पन्न किया जाता है। इस का विशेष विस्तार सप्र० १ म समुल्लास में देखें। भूः—

भूरिति वै प्राणः—यः प्राणयति चराचरं जगत् सः स्वयम्भूरीश्वरः। सब जगत् के जीवन का आधार, प्राणों से भी प्रिय ईश्वर। **भुवः**—भुवरित्यपानः—यः सर्वं दुःखमपानयति सोऽपानः। सब दुःखों से रहित, जीवों को दुःखों से छुड़ाने वाला। **स्वः**—स्वरिति व्यानः—यो विविधं जगद् व्यानयति व्याप्नोति स व्यानः। नानाविध जगत् में व्यापक। **सवितुः**—सुनोति उत्पादयति सर्वं जगत्। सु धातु प्रसव और ऐश्वर्य में आती है। यह पद सूर्य का भी द्योतक है। मध्यकालीन और आधुनिक विद्वान् इस का सूर्य ही अर्थ करते हैं। **वरेण्यम्**—वर्तुमर्हम्। स्वीकार्य, श्रेष्ठ। कोलब्रुक—पूजनीय। विल्सन—कमनीय। वेदार्थरत्न—परमोत्कृष्ट। लैंगलोइ—उदार। **भर्गः**—√भ्रस्ज्+घञ्। भूनने वाला, शुद्ध करने वाला। ब्राह्मण ग्रन्थों में इस के अर्थ पृथिवी, ऋग्वेद, होता, अग्नि, वसु, वाक्, वसन्त, गायत्री, प्राची, आदित्य, चन्द्रमा, वीर्य और त्रिवृत् दिये हैं। इस मन्त्र में गो० १।१।३२ में भर्गः का अर्थ 'अन्न' दिया गया है। आधुनिकों के अर्थों में कोल्ब्रुक—प्रकाश, वेदार्थरत्न—तेज, सामस्वामी—शक्ति, ग्रिफिथ—महिमा, ल्यूड्विग—चमक, प्रमुख हैं। **देवस्य**—दीव्यंति दीव्यते वा स देवः। सुखदायक, कमनीय। यह √दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु से व्युत्पन्न होता है। कोल्ब्रुक ने इस का अर्थ दिव्य, शासक, वेदार्थरत्न ने जाज्वल्यमान ग्रिफिथ ने देव और ल्यूड्विग ने देवगण किया है। इस पद के अर्थों के विवेचन के लिये देखो हमारा लेख—महर्षिदयानन्द और देवता शब्द का अर्थ (ऋग्वेद का धर्म तथा अन्य लेख में संग्रहीत)। **धियः**—निघं० में इसे बुद्धि और कर्म का पर्यायवाची बताया गया है। विद्वानों ने इन दोनों ही अर्थों को अपनाया है। वेदार्थरत्न ने भावनाएं, भक्ति, लैंग्लेओ ने प्रार्थनाएं अर्थ किये हैं।

गायत्री मन्त्र का महत्त्व

(vii) इस मन्त्र में बुद्धि और कर्मों की शुद्धि और सत्य मार्ग पर गति के लिए प्रार्थना की गई है। शुद्ध बुद्धि और श्रेष्ठ कर्म ही मानव की

ऐहिक और पारलौकिक उन्नतियों—अभ्युदय और निःश्रेयस के निष्पन्न करनें वाले हैं। इसी कारण इस मन्त्र की विशेष महिमा है। इस मन्त्र के ऋष्यादि विश्वामित्र, सविता और गायत्री हैं। इन पदों के अर्थों के अनुसार अन्य अर्थ भी इस मन्त्र के अभिप्रेत हैं। उन सब की कल्पना और विस्तार यहां सम्भव नहीं। उपरोक्त गायत्री के उपदेश की अवधियों के निर्धारण में इस मन्त्र के अनेकविध अर्थ भी कारण रहे हो सकते हैं।

(viii) श्रुतिः—श्रूयते इति श्रुतिः। √श्रु श्रवणे+क्तिन्। सामान्यतः इस का अर्थ परम्परा से सुन कर कण्ठ किए जाने वाले ग्रन्थ किया जाता है। इन में प्रमुख रूप से वेद और सामान्य रूप से ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् आते हैं। यदि इस का अर्थ श्रूयते ज्ञायते अनेनेति श्रुतिः किया जाए तो अर्थ अधिक संगत हो सकेगा और ब्राह्मणों पर भी ठीक-ठीक लागू हो सकेगा। यहां पर तैत्तिरीय ब्राह्मण की ओर निर्देश है।

त्रिष्टुभ् छन्द का सवितृ देवता का मन्त्र

४८. **त्रिष्टुभं राजन्यस्य**—जयराम के मत में यह मन्त्र इस प्रकार है—

"देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय। दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतन्नः पुनातु वाचस्पतिर्वाजं नः स्वदतु स्वाहा॥" य० ९।१

(ii) य० ५।३९ भी 'देव सवितः' से प्रारम्भ होता है, परन्तु उस का छन्द त्रिष्टुभ् न होने से वह अभिप्रेत नहीं है।

(iii) भर्तृयज्ञ इस के स्थान पर इस मन्त्र का विधान मानते हैं—

"ताँ सवितुर्वरेण्यस्य चित्रामहं वृणे सुमतिं विश्वजन्याम्।
यामस्य कण्वो अदुहत्प्रपीनाँ सहस्रधारां पयसा महीं गाम्[1]॥" य० १७।७४

---

१. पं० शुकदेव ने मानवगृह्यसूत्र १।२।३ दिया है जिस में त्रैष्टुभ मन्त्र आदेवो याति (यातु ?—ऋ० ७।४५।१) माना है।

देव सावतः प्रसुव मन्त्र का अर्थ

(iv) **देव सवितः**—जयराम और उवट ने इस का ऋषि बृहस्पति दिया है। महीधर और दयानन्द सरस्वती ने इन्द्राबृहस्पती। इस का देवता सविता और छन्द त्रिष्टुभ् (दस०—स्वराडार्षी त्रिष्टुभ्) है। यह मन्त्र य० ११।७ और ३०।१ में भी पाया जाता है। वहां पर 'वाजम्' के स्थान पर 'वाचम्' का प्रयोग है। पुनरुक्त अंशों से अर्थग्रहण की शैली पर यहां **वाजम्** का अर्थ वाचम् हो जाता है। तै० १।३।२।५ ने 'वाग्वै वाजस्य प्रसवः' कह कर इस अर्थ की पुष्टि की है। उपरोक्त पिछले दो मन्त्रों में स्वाहा का पाठ भी नहीं है। प्रकृत मन्त्र का अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है—

(v) 'हे (**देव**) [समस्त सुखों के] दाता प्रकाशस्वरूप (**सवितः**) सकल जगत् और ऐश्वर्य आदि के उत्पादक परमात्मन्, (**यज्ञम्**) (अध्ययन रूप मेरे) श्रेष्ठ कर्म को (**प्रसुव**) प्रगति दें। (**यज्ञपतिम्**) [अध्ययन यज्ञ के] यजमान [मुझ ब्रह्मचारी] को (**भगाय**) [क्षत्रियोचित] ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए (**प्र सुव**) गतिशील करते रहें। (**दिव्यः**) प्रकाशमान [क्षत्रगुणों को देने वाला] (**गन्धर्वः**) जगत् का धारक [और रक्षक] (**केतपूः**) [मनुष्यों के चित्तों में वर्तमान] ज्ञान का परिशोधक परमेश्वर (**केतम्**) [हमारे] ज्ञान को (**पुनातु**) पवित्र करें। (**वाचस्पतिः**) प्राणों के रक्षक प्रजापति (**नः**) हमारे (**वाजम्**) बल या वाणी को (**स्वदतु**) आनन्दकर 'बनाएं। (**स्वाहा**) [मेरी] वाणी शुभ हो।

(vi) **गन्धर्वः**—गां जगत् धरतीति। मेघदूत की प्रमोदिनी टिप्पणियों के पृ० १५३ की पाटि० ३ भी देखें। **केतपूः**—केतं चित्तस्थं ज्ञानं पुनाति शोधयतीति। **केतम्**—√कित् (ज्ञाने)+घञ्। ज्ञान, बुद्धि। शतपथ ब्राह्मण में केतः अन्न का वाचक भी है। **वाचस्पतिः**—ब्राह्मणों में इस के अर्थ प्राण और प्रजापति भी दिए हैं। **वाजम्**—√वज गतौ से। इस के अर्थ 'अन्न, वीर्य, पशु, स्वर्गलोक और ओषधि' आदि पाए जाते हैं। वाजिन् आदि पदों में इस का बल-अर्थ सुस्पष्ट है। **स्वदतु**—√स्वद् से। स्वाद

ले, आनन्द ले और आंनन्दयुक्त करे। अन्तर्हितएयर्थ धातु है। **स्वाहा**—सु+आह से निष्पन्न होता है। उत्तम कथन। दस० ने अपने भाष्यों में इस के अनेकविध अर्थ दिए हैं।

(vii) भर्तृयज्ञ द्वारा उद्धृत **'तां सवितुः' मन्त्र का अर्थ** इस प्रकार है—(**अहम्**) मैं (ब्रह्मचारी) [**वरेण्यस्य**] श्रेष्ठ पूजनीय [**सवितुः**] सकल जगत् के उत्पादक परमेश्वर की [**ताम्**] उस (सुविदित) [**चित्राम्**] विभिन्न प्रकार (के फल देने) वाली [**विश्वजन्याम्**] सब का कल्याण करने वाली [**सुमतिम्**] शोभन बुद्धि को [**आवृणे**] धारण करता हूँ [**याम्**] जिस को (पा कर) [**कण्वः**] विद्वान् (क्षत्रिय जन) [**अस्य**] इस (सविता—परमेश्वर की दी हुई) [**पयसा**] अन्न-जल आदि से [**प्रपीनाम्**] प्रवृद्ध हुई [**सहस्रधाराम्**] हज़ारों प्रकारों के (पदार्थों को) धारण करने वाली [**महीम्**] महान् विस्तृत [**गाम्**] भूमि को [**अदुहत्**] दोहते रहे हैं।

(viii) **विश्वजन्याम्**—विश्वेभ्यः सर्वेभ्यः जनेभ्यः हिताम्। विश्व+जन+यत्। **सुमतिम्**—यथार्थ विषय वाली पदार्थों का यथावत् ज्ञान कराने वाली बुद्धि। **कण्वः**—निघं० में यह मेधाविनामों में पढ़ा गया है। माधवभट्ट के भाष्य में इसे इसी अर्थ में लिया गया है। विकल्प में ऋषि-विशेष का नाम भी माना है। इसी भाष्य में इस का सम्बन्ध ऐतिहासिक व्यक्ति से आरम्भ होता है। वेभाप० २०।५—७ में दिखाया गया है कि यह संहिताओं आदि में मेधावी' अर्थ का द्योतक है। यह गत्यर्थक या शब्दार्थक या निमीलनार्थक √कण् से अथवा √कण्व् वध करना से बनता है। **प्रपीनाम्**—प्रकृष्टरूपेण पीनां पुष्टाम्। बढ़ी हुई। **सहस्रधाराम्**—सहस्र-संख्यानर्थान् धरति ताम्। **अदुहत्**—वेद में भूतकाल की क्रियाओं के अर्थ भी बहुधा लट् लकार में किए जाते हैं।

(ix) इसी प्रकार का भाव—भगमस्या वर्च आदिष्यधि वृक्षादिव स्रजम्। महाबुध्न इव पर्वतो ज्योक् पितृष्वास्ताम्॥ एषा ते राजन् कन्या वधूर्नि धूयतां यम। सा मातुर्बध्यतां गृहेऽथो भ्रातुरथो पितुः॥ एषा ते कुलपा

राजन् तामु ते परि दद्मसि। ज्योक् पितृष्वासाता आ शीर्ष्णः शमोप्यात् ॥ अवे० १।१४।१—३ में पाया जाता है। विस्तार के लिए देखो हमारा लेख —ए न्यू इन्टरप्रैटेशन औफ अवे० १।१४।

(x) ये दोनों मन्त्र क्षत्रिय बनने के इच्छुक और योग्य बालक के लिए माने गये हैं। अतः ऐसे बालकों की भावनाओं के अनुरूप ही इन मन्त्रों के अर्थ अभीष्ट हैं और ऊपर दिए भी गए हैं।

जगती छन्द वाला सविता देवता का मन्त्र

४९. **जगतीं वैश्यस्य**—जयराम के मत में यह मन्त्र अधोदत्त है—

"विश्वा रूपाणि प्रति मुञ्चते कविः प्रासावीद् भद्रं द्विपदे चतुष्पदे।
वि नाकमख्यत् सविता वरेण्योऽनु प्रयाणमुषसो विराजति ॥"
ऋ० ५।८१।२; य० १२।३

(ii) भर्तृयज्ञ ने यह मन्त्र माना है—

"युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥"
य० ५।१४; ऋ० ५।८१।१

(iii) **विश्वा रूपाणि मन्त्र का अर्थ** इस प्रकार किया जा सकता है—[**कविः**] क्रान्तदर्शन, क्रान्तप्रज्ञ और सर्वज्ञ (परमेश्वर) [**विश्वा**] सम्पूर्ण [**रूपाणि**] पदार्थों के स्वरूप को [**प्रति मुञ्चते**] प्रकट करता है। (वह) [**द्विपदे**] दो पैरों वाले प्राणियों (मनुष्य आदि) (और) [**चतुष्पदे**] चार पैरों वाले (पशु आदि) के लिये [**भद्रम्**] कल्याण [**प्रासावीद्**] करता है। [**वरेण्यः**] पूजनीय [**सविता**] सर्वोत्पादक परमेश्वर ने (सब प्राणियों के लिए) [**नाकम्**] समस्त दुःखों से रहित (सुखों) को [**वि अख्यत्**] प्रकाशित किया है। [**उषसः**] उषाओं के समान (आलस्य और दारिद्रय आदि की दाहक) गतिशीलों के [**प्रयाणम्**] गमन के [**अनु**] पश्चात् [**विराजति**] (समृद्धि) चमक जाती है ॥

(iv) **नाकम्**—कं सुखम्। न विद्यते कं सुखं यस्मिन् तत् अकम्। न अकं दुःखं विद्यते यस्मिन् तत् नाकम्। **उषसः**—दस० ने उ० ४।२३४ में इस की व्युत्पत्ति 'ओषति दहतीति उषः···उषा वा दी है। ऋग्वेद में 'उषाः' सतत गतिशील है। यह प्रति दिन अपने पूर्व मार्ग पर आती है। वह मघोनी = धनयुक्त और धन देने वाली है। देखो ऋ० (३।६१।३-४ आदि)। **प्रयाणम्**—गमन, बीतना, चला जाना। भाव यह है कि व्यापार आदि कर्मों के करने से धन की वृद्धि होती है।

(v) भर्तृयज्ञ द्वारा प्रदत्त **'युञ्जते मन उत'** आदि मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—

[होत्राः] यज्ञशील **[विप्राः]** (व्यापार में कुशल) बुद्धिमान् वैश्य **[विप्रस्य]** विशेष रूप से फल प्राप्त कराने वाले **[बृहतः]** महान् **[विपश्चितः]** (वाणिज्य रूपी) यज्ञ (के कर्म में) **[मनः]** (अपने) मनों को **[युञ्जते]** युक्त करते हैं **[उत]** और **[धियः]** कर्मों को **[युञ्जते]** (उसी में) केन्द्रित करते हैं। **[इत्]** निश्चय से (यह) **[देवस्य]** दिव्य **[सवितुः]** सकल जगत् के उत्पादक और परमैश्वर्य के सृजक परमेश्वर की **[मही]** महान् **[परिष्टुतिः]** महिमा (है)। **[वयुनावित्]** (व्यापारिक उत्तम) कर्मों का जिज्ञासु (एकः) कर्मशील (मैं सविता की इस महिमा को) **[विदधे]** (पूर्ण रूप से) धारण कर सकूं।

(vi) **विप्राः**—निघं० में यह मेधाविनामों में पढ़ा गया है। ऋग्वेद के अनुसार बुद्धि और कर्म से ही मनुष्य 'विप्र' बनता है—"उपह्वरे गिरीणां संगथे च नदीनम्। धिया विप्रो अजायत॥" ऋ० ८।६।२८। **विप्रस्य**—महीधर ने इस का विग्रह—विशेषेण प्राति पूरयति फलमिति विप्रस्तस्य। √प्रा पूर्तौ से। दस० ने भी इसी व्युत्पत्ति को अपनाया है। **विपश्चितः**—तु० क० श० ३।५।३।१२—यज्ञो वै बृहन् विपश्चित्। य० ५।१४ में महीधर-भाष्य भी देखें। यज्ञ का अर्थ अतिव्यापक होने से यहां पर प्रकरणोचित 'वाणिज्य रूपी यज्ञ कर्म' अर्थ किया गया है। **होत्राः**—√हु दानादनयोः से। यह धातु 'यज्ञ करने' के अर्थ में सुविदित है। अतः यज्ञ करने वाले।

दधे—√धा से लट् उत्तम पु० एक व० आत्मनेपद। यहां भाव लोट् लकार में अभीष्ट है। वयुनावित्—वयुन का अर्थ कर्म है। कर्मों को जानने वाला। अभी ब्रह्मचारी कर्मज्ञ नहीं हुआ है। वह व्यापारिक कर्मों को जानना चाहता है। अतः यहां इच्छार्थ अभीष्ट है। मही—महती। वैदिक रूप। परिष्टुतिः—परि+स्तुतिः। सब ओर से स्तुति। अतः यश, महिमा। एकः—एति गच्छतीति एकः। √इ+कन्। उ० ३।४३। गतिशील, कर्मठ।

सब के लिये गायत्री का उपदेश

५०. पृथक्-पृथक् गुणों के अभिलाषियों के लिये पृथक्-पृथक् मन्त्रों का विधान किया जा चुका है। सब मन्त्रों का देवता सविता और उन का विषय सद्बुद्धि की प्रार्थना है। भेद केवल छन्द का है। छन्दों के वाचक पदों के अर्थों[1] में भी एक सीमा पर एकता का सूत्र परिलक्षित होता है। इस प्रकार वर्णों में मूलतः कोई भेद नहीं रहता है। अतः सब को गायत्री मन्त्र का ही उपदेश किया जा सकता है। इस विकल्प में पिछले ३ सूत्रों में वर्णित विधि से पूर्व प्रचलित प्रथा का अवशेष भी लक्षित होता है।

समिधाधान

५१. अत्र—यहां। कर्क और जयराम इस का अर्थ 'अग्नि में' करते हैं। हरिहर के मत में यह 'सावित्री मन्त्र के उपदेश के पश्चात् अब' का द्योतक है और विश्वनाथ के मत में 'दोपहर की सन्ध्या के बाद में' का। समित्—समिध्यते दीप्यते अग्निरनया इति। सम्+√इध् चमकना से। प्रदीप्त करने वाली। भाव यह है कि जिस प्रकार समिधा अग्नि में पड़ कर उसे प्रदीप्त कर देती है उसी प्रकार गुरु के सावित्री और ज्ञान के उपदेश रूपी समिधा से तुम भी संसार में चमक उठो। तु० क० (१) 'प्राणा वै

---

१. छन्दों के वाचक पद मन्त्रों के अर्थों के प्रकाशक होते हैं। अतः उन के भेद से अर्थ में भेद हो जाता है। देखो—सुधीर कुमार गुप्त, सीयर्स ऑफ दी ऋग्वेद, देयर मैसेज एण्ड फिलौसौफी।

समिधः। प्राणा ह्येनं समिन्धते। श० ६।२।३।४४ (२) यदेनं समयच्छत् तत्समिधः समित्त्वम्। तै० २।१।३।८। और (३) समिधो यजति वसन्तमेव वसन्ते वा इदं सर्वं समिध्यते। कौ० ३।४। ब्राह्मणों में समिध् के अर्थ अस्थि, गर्भ, वसन्त और प्राण मिलते हैं।

(ii) इस समिधा के आधान के लिये न तो यहां पर पारस्कराचार्य ने कोई मन्त्र प्रस्तुत किया है, न भाष्यकारों ने ही। आगे० सूसं० ५४ में भी समिधाधान का विधान और ५५ में उस समय बोले जाने वाला मन्त्र है। अतः या तो समिधाधान का प्रकृत स्थल पर विधान करने वाला सूत्र पुनरुक्ति होने और मन्त्रहीन क्रिया का विधायक होने से प्रक्षिप्त है, अथवा यहां पर दस० के संवि० के वर्णन के अनुसार 'अयं त इध्म आत्मा' 'समिधाग्निं दुवस्यत, सुसमिद्धाय शोचिषे' तथा 'तन्त्वा समिद्भिरङ्गिरो०' मन्त्रों से समिधाधान अभीष्ट है। यह भी सम्भव है कि अब तक अग्नि का कुछ मन्द पड़ जाना स्वाभाविक था। अतः इस स्थल पर सामान्यरूप से बिना मन्त्र पढ़े यज्ञवेदी में अग्नि में समिधाएं डाल दी जाएं। उपरोक्त तीनों मन्त्रों का यहां विनियोग आचार्य पारस्कर द्वारा विहित नहीं है। अतः उन का अर्थ यहां नहीं दिया गया है।

अग्नि का परिसमूहन और उस का भाव

५२. **पाणिना**—भाष्यकारों का विचार है कि यहां पर 'पाणिना' में एक वचन के प्रयोग से एक हाथ से ही क्रिया का विधान अभीष्ट है, दोनों हाथों से नहीं। कई क्रियाओं में अग्नि का संधुक्षण दोनों हाथों से किया जाता है, परन्तु यहां नहीं।

(ii) 'पाणि' शब्द 'पण स्तुतिव्यवहारे च' से बनता है। कुछ विद्वानों का विचार है कि यह पद केवल स्तुत्यर्थक 'पण्' धातु से सिद्ध होता है। परन्तु यह स्थिति ठीक प्रतीत नहीं होती। दयानन्द सरस्वती जी ने अपने वेदभाष्यों और उ० ४।१३३ के भाष्य में इसे व्यवहारार्थक भी माना है। यास्क का भी यही मत है (देखो महर्षि दयानन्द और देवताशब्द का अर्थ

१३-१८)। अतः पाणिनाऽग्निं परिसमूहति' का आन्तरिक भाव यह हुआ— 'अपने व्यवहार से ब्रह्मचारी वेदज्ञान, अध्यात्मज्ञान और यज्ञकर्म रूप अग्नि को एकत्रित कर प्रदीप्त करता रहे।' **परिसमूहति**—परि+सम्+√ऊह्+ लट् प्रथम पु० एक व०। भाष्यकारों ने इस का अर्थ १. 'संधुक्षण—तेज़ करना, प्रचण्ड करना, जगाना' किया है। आपटे के संस्कृत-अंग्रेजी कोष में २. 'चारों ओर जल से छिड़कना' विको० में '३. इकट्ठा करना, ४. जमा करना', संशकौको० में '५. एकत्र करना, ६. यज्ञाग्नि में समिधा डालना, ७. यज्ञ में अग्नि के चारों ओर गिरे हुए तृण आदि को आग में डालना, ८. यज्ञाग्नि के चारों ओर जल से मार्जन करना' किये हैं। यहां पर सूसं० ५१ की दृष्टि में अर्थ संख्या २, ६ और ८ संभव नहीं। तीव्र अग्नि को जल से छिड़कना उस के वेग को मन्द करने के लिये होता है। समिधाएं डालते ही जलसेचन अनावश्यक है। वैसे भी इस का विधान आगे सूसं० ५४ में किया गया है। 'अदितेऽनुमन्यस्व' आदि से जलप्रसेचन का पूरा विधान न होने से वह भी अभिप्रेत नहीं है। अर्थ सं० ७ में 'परिसमूहति' के साथ कर्म और 'अग्नि' में सप्तमी विभक्ति आनी चाहिए थी। अतः प्रकरण में शेष अर्थ ही अभीष्ट हैं। संचं० ने 'इकट्ठा करना' अर्थ ग्रहण किया है।

५३. **सुश्रवः**—शोभनं श्रवो यस्य सः। सम्बोधन एक व०। श्रवः निघं० २।७।४ ब में अन्न का और २।१०।२६ में धन का वाचक माना गया है। विको० ने 'तीव्र गति और धारा' अर्थ भी दिए हैं। उत्तम धन, कीर्ति और कर्मों वाला। **सौश्रवसम्**—सुश्रवाश्चासौ सौश्रवसः तम्। सुश्रवस् और सौश्रवस—दोनों का एक ही अर्थ है। जयराम लिखते हैं कि "मेरे गुरु को सुश्रवस् बनाओ। उन का शिष्य होने से मैं 'सौश्रवस' हो ही जाऊंगा।" यह भाव ठीक नहीं क्यों कि इस में गुरु को पहले से असुश्रवस् समझने की भावना अवगत होती है। **निधिपाः, निधिपः**—निधिं कोषं पाति रक्षतीति। **वेदस्य**—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। ब्राह्मणों में 'ब्रह्म, सविता, ये लोक, वाक् और त्रयीविद्या' को 'वेद' कहा है। 'यज्ञ, भूर्भुवः स्वः,

सत्य' आदि को त्रयीविद्या नाम दिया गया है। इन सब की रक्षा की भावना गौण रूप से और ऋग्यजुःसामाथर्ववेदों की प्रमुख रूप से अभिप्रेत हैं। **मनुष्याणाम्**—मनुष्यों में, अथवा मनुष्यों के लिए निर्मित (वेद का)। जयराम 'और मनुष्यों का भी रक्षक' अर्थ लेते हैं। **देवानाम्**—जयराम—दीव्यन्ति प्रकाशयन्त इति देवा अंगानि इन्द्रादयो वा। शरीर के अंग अथवा इन्द्र आदि देवता। परन्तु प्रकरण में 'विद्वान् अथवा सूर्य आदि भौतिक पदार्थ' अर्थ ही संगत होते हैं। **यज्ञस्य**—जयराम—वेद, विष्णु।

(ii) **अग्ने सुश्रवः०**—इस **मन्त्र के उत्तरार्ध का संस्कारचन्द्रिका का अर्थ** यह है—"हे (**अग्ने**) भौतिक अग्ने! (**देवानाम्**) जल आदि देवताओं के बीच में (**त्वम्**) तू (**यज्ञस्य**) यज्ञ हवनादि क्रिया और शिल्प विद्या आदि के (**निधिपा**) कोष का रक्षक (**असि**) है (**एवम्, अहम्**) ऐसे ही मैं (**मनुष्याणाम्**) मनुष्यों के बीच में (**वेदस्य**) वेदविद्याज्ञान सम्बन्धी सब विद्या के (**निधिपा**) कोश का स्वामी, ईश्वर करे कि (**भूयासम्**) होऊँ।" पृ० ४३३।

अग्निपरिसमूहन में विनियुक्त मन्त्र

(iii) हरिहर आचार्य लिखते हैं कि सूसं० ५२ के अग्निसन्धुक्षण में पंच मन्त्रों का प्रयोग होता है और कुछ आचार्यों के मत में तीन मन्त्रों का। वे तीन मन्त्र सूसं० ५३ में (१) 'अग्ने···मा कुरु,' (२) 'यथा त्वमग्ने सुश्रवः·······सौश्रवसं कुरु' और (३) 'यथात्वमग्ने देवानाम्·······भूयासम्'। जो आचार्य पांच मन्त्र मानते हैं वे इस मन्त्र के भाग ऐसा करते प्रतीत होते हैं—१. अग्ने···कुरु। २. यथा···सुश्रवा असि। ३. एवं······ सौश्रवसं कुरु। ४. यथा त्वमग्ने···निधिपा असि। ५. एवमहं···भूयासम्।

५४. **प्रदक्षिणम्**—अर्थात् प्रदक्षिणा करते हुए। **पर्युक्ष्य**—परि+ √उक्ष्+ल्यप्। सींच कर, छिड़क कर। इस से अग्नि का वेग कुछ कम हो जाता है। यह क्रिया शान्ति की प्रतीक है। ब्रह्मचारी ज्ञान और शक्ति से

प्रदीप्त हो कर भी शान्तचित्त रहे। **समिधम्**—गदाधर आचार्य सूसं० ५.१ में भी तीन समिधाओं का प्रक्षेप मानते हैं।

७५ **आहार्षम्**—आ+√हृ+लुङ् प्रथम पु० एक व०। आहृ—लाना, देना। **जातवेदसे**—संच०—ज्ञान देने वाला ईश्वर। गदाधर—जातान् जातान् वेत्तीति जातवेदास्तस्मै। समस्त उत्पन्न पदार्थ आदि को जानने वाला। ब्राह्मणों में यह पद 'प्राण, वायु, समस्त उत्पन्न वस्तुएं' का वाचक माना गया है। ऋ० ३।२६।७ में अग्नि जन्म से ही 'जातवेदस्' है। वेद में यह 'अग्नि' के विशेषण के रूप में आया है। नि० ७।१६ में कहा गया है कि उत्पन्न वस्तुओं को जानने वाला, जिस का उत्पन्न प्राणी जानते हैं, समस्त पदार्थों में विद्यमान, जातवित्त जातधन, जातविद्य या जातप्रज्ञान होने से ही जातवेदाः होता है। दस० ने इसे 'परमात्मा' का वाचक माना है। **अग्ने**—यह सम्बोधन प्रयोग की शैली मात्र है। यहां प्रथमान्त रूप ही अभीष्ट है, सम्बोधन नहीं। **मेधया**—मेधते संगच्छते सर्वमस्याम्। अकोसु० १।५।२। √मेधृ संगमे+अ। यहां पर धातुपाठ में 'मिदृ मेदृ मेधाहिंसनयोः। मेधृ संगमे च। (मिथृ मेथृ मेधाहिंसयोरित्येके। मिधृ मेधृ इत्यन्ये।)' पाठ है। यहां पर कोष्ठकों में प्रदत्त अंश सिकौ० (बालमनोरमा) में नहीं हैं। इस में 'मेधृ' पाठ अनावश्यक है, क्यों कि यह धातु पहले ही पढ़ी जा चुकी है। शेष में 'च' के प्रयोग से पहली धातुओं के अर्थ मेधा और हिंसन भी संगत होते हैं। अतः मेधृ के अर्थ मेधा, हिंसन और संगम होते हैं। मेधा में अज्ञान की हिंसा और ज्ञान का संगम (=प्राप्ति, मेल) होता है। गदाधर—अतीतादिधारणवती बुद्धि। **प्रजया**—सामान्यतः इस का अर्थ सन्तान होता है। ब्रह्मचारी वीर्यरक्षा का व्रत ले रहा है, सन्तानोत्पत्ति का नहीं। अतः यह अर्थ प्रकरण में असंगत है। ब्राह्मणग्रन्थों ने इस के अर्थ 'विश्वज्योतिः, इषः, भूतानि, बर्हिः, शस्त्रम्, उक्थानि' भी दिए हैं। अतः यहां पर विश्वज्योति, अन्न आदि अर्थ अभिप्रेत हैं। **पशुभिः**—पशुओं—गाय, बैल, घोड़े आदि से। यद्यपि गुरुकुल में इन तीनों पशुओं का परम उपयोग था और वे

वहां पाले जाते थे, परन्तु वे ब्रह्मचारी के अपने धन नहीं होते थे। अतः यह अर्थ भी प्रकरण में विशेष संगत नहीं।

(ii) ब्राह्मण ग्रन्थों में 'पशवः' के अर्थ—'अग्नि, सविता, दैवी विश्, गव्य, घृतश्च्युतः, हविः, श्री, यश, शान्ति, रस, पुष्टि, पूषा, प्रजापति की कल्याणी तनू, प्राण, वाज, अन्न, धान, गृह, आत्मा, यज्ञ, छन्दांसि और वपुः' आदि दिए गए हैं। इन में से दैवी बिश् (तु० क० दैवी सम्पत्—गीता १६।१–३), शान्ति, पुष्टि, यज्ञ' आदि सामान्य रुप से और 'प्रजापति' की कल्याणी तनू' विशेष रूप से संगत होते हैं। कठोपनिषद् १।२।१–२ में सांसारिक सुखों को प्रेयः और पारलौकिक या पारमार्थिक सुख को श्रेयः कहा है। यही प्रजापति की कल्याणी तनू है। अतः पशुभिः' का अर्थ कल्याण और शान्ति किया जा सकता है। य०४०। ११, १४ के अनुसार दोनों ही प्रकार के सुखों की प्राप्ति ही वास्तविक कल्याण प्रदान करती है। प्रकृत मन्त्र में आयु आदि से प्रेयः और पशुभिः से श्रेयः की कामना की गई है।

(iii) **जीवपुत्रः**—जीवन्तः पुत्रा यस्य सः। दीर्घजीवी पुत्रों वाला। इस पद का संहिताओं का प्रयोग इसी अर्थ की ओर संकेत करता है—तु०क० 'जीवपुत्रा पतिलोके वि राज प्रजां पश्यन्ती सुमनस्यमाना' ॥ खि० २।११।३। तं त्वा दम्पती जीवन्तौ जीवपुत्रावुद् वासयातः पर्यग्निधानात् ॥ अवे १२।३।३५। वयं जीवा जीवपुत्रा अनागसः ॥ ऋ० १०।३६।९। 'जीव' पद ऋ० १।६८।२ में अग्नि का विशेषण है। जो 'जनिष्ठा' है; ऋ० १।११३।१६ में 'असुः' का विशेषण है। ऋ० ५।४४।५ में मेधावी, विद्वान् का द्योतक प्रतीत होता है (देखो दयानन्दभाष्य)। अवे० १६।७०।१ में यह सूर्य, इन्द्र और देवताओं का विशेषण है। अवे० १४।२।४४ में यह निष्पाप यशस्वी युवक के लिए प्रयुक्त हुआ है। सामान्यतः यह पद संहिताओं में जीव, प्राणिमात्र और जीवित के अर्थ में आया है। अतः भाष्यकारों के उपरोक्त अर्थ के साथ जीवपुत्र का अर्थ—गतिशील, बुद्धिमान् और वंश के समुन्नायक (तु० क० स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम्) का पुत्र' अर्थात् 'परम

गतिशील, बुद्धिमान् और यशस्वी' किया जा सकता है। इस की पुष्टि ब्रह्मचारी की 'मेधावी, यशस्वी, तेजस्वी, ब्रह्मवर्चसी, अन्नाद और अनिराकरिष्णुः' होने की प्रार्थना से होती है। ब्रह्मचारी अपने आचार्य के सदृश होना चाहता है। **अनिराकरिष्णुः**—जयराम—गुरु द्वारा बताये गये धर्म आदि को न भूलने वाला। संच० किसी का तिरस्कार न करने वाला। यह पद न निराकरिष्णुः (निर्+आ+√कृ+इष्णुच्) से बनता है। निराकरण के अर्थ संशकौको० में '(१) शमन, (२) निवारण, (३) खण्डन, (४) देश-निर्वासन, (५) तिरस्कार, (६) मुख्य यज्ञीय कर्मों की अवहेलना' दिये गये हैं। इन में छठा और तीसरा अर्थ भी उपरोक्त अर्थों के साथ प्रकरण में उपयोगी हैं। **ब्रह्मवर्चसी**—संच०—ब्रह्मसम्बन्धी तेज वाला अर्थात् आत्मिक बल वाला। जयराम—याजनादितेजोयुक्तः। प्रकरण में ब्रह्म का वेद अर्थ अधिक उपयोगी प्रतीत होता है। अतः 'वेदज्ञान के तेज से युक्त'। **अन्नादः**—अन्नमत्तीत्यन्नादः। समस्त भोग्य पदार्थ 'अन्न' होते हैं क्यों कि 'भोगना' 'खाने' के भाव का ही विस्तार है इसी लिए ब्राह्मणों में 'अन्न' के अर्थ 'शान्ति, पशु, श्री, प्राण, वाज, सप्त संख्यक, दधि मधु घृत, समस्त भूतों की आत्मा और रेतः' आदि दिए गए हैं। 'अन्न' को वहां 'वैश्वदेव' भी कहा गया है। देखो वैको० पृ० ३०—३१। अतः यहां 'समस्त भोग्य पदार्थों का भोक्ता' अर्थ अभिप्रेत है। **स्वाहा** गदाधर—सुहुतमस्तु। यह सु+आ+आह से बना है—सब ओर से सुन्दर कथन। इस मन्त्र में कुछ प्रार्थनाएं हैं। यहां पर उन प्रार्थनाओं की सफलता की कामना व्यक्त की गई है। वेदभाष्यों में स्वा० दयानन्द सरस्वती के अर्थ और वैदिक कोष में स्वाहाकार के अर्थ भी अवलोकनीय हैं। मेघदूत ४७ की प्रमोदिनी टिप्पणियों के पृ० ८१ पर पादटिप्पणी भी देखें।

५६. दूसरी और तीसरी समिधाओं को डालते समय मन्त्र सं० ५५ को प्रत्येक वार पढ़ना होता है।

५७. एषा ते—समिधाधान में 'अग्नये समिधमाहार्षम्' के स्थानपर

'एषा ते' मन्त्र से समिधा दे। अथवा 'अग्नये समिधम्' और 'एषा ते' दोनों मन्त्रों को मिला कर पढ़े।

एषा ते मन्त्र और उस का अर्थ

(ii) 'एषा ते' मन्त्र यह है—

"एषा ते अग्ने समित् तया वर्द्धस्व चाच प्यायस्व ।
वर्धिषीमहि च वयमा च प्यासिषीमहि ॥
अग्ने वाजजिद् वाजन्त्वा ससृवाँ सं वाजजितं सम्मार्ज्मि ॥ य० २।१४

(iii) इस का अर्थ यह है—

[अग्ने] हे अग्नि [एषा] यह [समित्] समिधा [ते] तुम्हारे लिए (है)। [तया] उस से [वर्धस्व] प्रदीप्त हो [च च] और [आप्यायस्व] (मुझ ब्रह्मचारी को) बढ़ाओ। [च] और [वयम्] हम [वर्धिषीमहि] वृद्धि को प्राप्त करें [च] और [आ] सब ओर से [प्यासिषीमहि] (दूसरों को) बढ़ा सकें। [अग्ने] हे अग्नि [वाजजित्] ज्ञानसम्पन्न हुआ (मैं) [वाजम्] शक्तिपुंज [ससृवांसम्] गतिशील [वाजजितम्] अन्न आदि के उत्पादक [त्वा] तुम को [सम्मार्ज्मि] प्रदीप्त करता हूं।

समिधाधान का भाव

(iv) भाव यह है कि जिस प्रकार अग्नि समिधा से प्रदीप्त होती है उसी प्रकार मैं ज्ञान से चमक कर लोक का कल्याण कर सकूं। विविध पदार्थों के ज्ञान के लिए शक्ति, गति और उत्पादन के परम साधन अग्नि का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर प्रयोग कर सकूं।

(v) समिधाधान के दोनों मन्त्रों में अग्नि परमेश्वर की प्रतीक है। परमेश्वर ही ब्रह्मचारी की समस्त कामनाओं को पूरा कर सकता है। भौतिक अग्नि नहीं। **प्यायस्व**—√प्याय्+लोट् मध्यम पु० एक व०। बढ़ाना। **वर्धिषीमहि**—√वृध् बढ़ना+आशीर्लिङ् उत्तम पु० बहु व०। **प्यासि-**

षीमहि—यह √'ध्यै' से आशीर्लिङ् का रूप है। **वाजजित्**—वाज के अर्थ पहले दिए जा चुके हैं। जित् जीतने वाला। अतः समर्थ, सम्पन्न। अग्नि के पक्ष में—अन्न आदि के अभाव को जीतने वाला=अन्न आदि से समृद्ध करने वाला, अतः अन्न आदि का उत्पादक। **सस्रृवांसम्**—√सृ जाना क्वसु+पुल्लिंग द्वितीया एक व०। गतिशील। **सम्मार्ज्मि**—साफ करता हूं, प्रदीप्त करता हूं।

जलसेचन

५८. **पूर्ववत्**—पहले के समान, जैसा ऊपर सूसं० ५२ और ५४ में बताया है। इस परिसमूहन (=अग्नि को एकत्र कर प्रज्वलित करना) और पर्युक्षण (अग्नि को जल से छिड़कना) के एक साथ वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि यहां पर यज्ञवेदी के चारों ओर 'अदितेऽनुमन्यस्व (पूर्व में)' 'अनुमतेऽनुमन्यस्व (पश्चिम में)' 'सरस्वत्यनुमन्यस्व (उत्तर में)' और "देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु॥ (चारों ओर)" से जलप्रसेचन अभीष्ट हो, अग्नि पर जलसिंचन नहीं। गदाधर के लेख 'पर्युक्षणं अग्नेः सर्वतो जलासेकः' का भी यही भाव है। क्यों कि अग्नि को प्रदीप्त करते ही उसे शान्त करना कुछ कम समझ में आता है। आध्यात्मिक दृष्टि से परिसमूहन और जलप्रसेचन के एक साथ करने से 'बढ़े हुए उन्नत पुरुष को उन्नति के साथ-साथ शान्ति को धारण करना परम आवश्यक है' यह भाव निकलता है। इस जलप्रसेचन का विधान स्वा० दयानन्द सरस्वती ने संस्कारविधि में किया है।

हाथ तपा कर अंगों के स्पर्श का लक्ष्य

५९. **प्रतप्य**—प्र+√तप्+ल्यप्। **विमृष्टे**—वि+√मृश्+लट् प्रथम पु० एक व०। मलता है। इस कार्य को करने से यज्ञाग्नि से उठती हुई आहुतियों में डाले हुए द्रव्यों के परमाणुओं से समृद्ध और अनेक प्रकार के गुणों से युक्त वायुओं का विशेष संपर्क प्राप्त होता है और वह चित्त को

प्रसन्न और मुख को कान्तिमय कर देता है। यज्ञ में जो पदार्थ डाले जाते हैं वे सुगन्धयुक्त और पौष्टिक तो होते ही हैं साथ ही विभिन्न रासायनिक क्रियाओं के उत्पादक भी होते हैं। विस्तार के लिये डा० सत्यप्रकाश की पुस्तक 'अग्निहोत्र' देखें। यहां पर लोक में हाथों पर आहुतियों के पश्चात् जल में डाली हुई घृत की बूंदों को मलने की प्रथा देखने में आती है।

६०. **तनूपाः**—तनूं पातीति तनूपाः। ऐ० २।४ के अनुसार प्राण 'तनूनपात्' है क्यों कि वह शरीर की रक्षा करता है। श० १।५।४२ में 'रेतस् (=वीर्य)' को 'तनूनपात्' कहा है। शरीर की स्थिति वीर्य से ही होती है। 'तनूनपात्' 'अग्नि' का प्रसिद्ध नाम है। उधर अग्नि के अर्थों में 'प्राण' और 'रेतस्' भी मिलते हैं। अतः प्राण और रेतस् की प्रतीक अग्नि से शरीर की रक्षा की प्रार्थना की गई है। **आयुर्दाः**—आयुः ददातीति। ईयते प्राप्यते यत्तदायुः। जीवनं वा। (दसउ० २।११८) अथवा, एति प्राप्नोति सर्वानित्यायु-र्जीवनकालः (दसउ० १।२)। दोनों स्थलों पर दोनों ही व्याख्यान संभव हैं, केवल प्रत्यय का भेद है। आयुःपद गतिशील काल का द्योतक है। इसी लिए इस के अर्थों में 'संवत्सर, यज्ञ, लोक और अग्नि का भी ग्रहण किया गया है। अग्नि गतिप्रदान करती है। सूर्य और चन्द्र के रूप में वह समय (=संवत्सर) का विधान करती है—तु० क० 'ये द्वे कालं विधत्तः।' अभिज्ञानशाकुन्तल १।१। **वर्चोदाः**—अग्नि वर्चस्=तेज का कोश है, यह सुज्ञात है। **तन्वाः**—तनोः। शरीर का अर्थात् शरीर में। **ऊनम्**—कमी। **आपृण**—आ+√पृण् प्रसन्न करना, शान्त करना+लोट् मध्यम पु० एक व०। (कमी को) शान्त कर दो, (कमी को पूरा कर के) प्रसन्न करो। अतः अनुवाद में 'पूरा करो' अर्थ दिया गया है। इसे √पृ पूरा करना से भी लिया जा सकता है।

(ii) वेद में अग्नि को **अंगिरा** कहा है। ऋ० १०।६७।२ में आंगि-रस ऋत के प्रशंसक, सरलता के धारक, द्युपुत्र, असुर के वीर, विद्वत्पदप्राप्त और यज्ञ के तेज को श्रेष्ठ मानने वाले, ऋ० ३।५३।७ में धनदायक और

आयुवर्धक, ऋ० ६।६५।५ में गो (=वाणी=ज्ञान) के वंशज और य० ३४।१७ में पदज्ञ और साम द्वारा ज्ञान प्राप्त करने वाले कहे गए हैं। ऐसे व्यक्ति ही राष्ट्र को और समाज को प्राण और आयु देते हैं और उन की कमी दूर करते हैं। अतः यहां पर व्यञ्जनावृत्ति से ब्रह्मचारी और उपस्थित विद्वानों और सामान्य जनता को अपने-अपने अनुरूप भावनाएं ग्रहण करने का संकेत है।

६१. देवी—देव-पद का स्त्रीलिंग रूप। ऊपर सूसं० ३३ में देवपद देखें। **सरस्वती**—सामान्यतः यह 'विद्या' की देवी मानी जाती है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में इस के अर्थ वाक्, जिह्वा, गौः, अमावास्या, योषा, पुष्टि आदि पाये जाते हैं। ऋग्वेद में सरस्वती को पावक, ज्ञान-सम्पन्न, सूनृतों की प्रेरक, बुद्धियों को चिताने वाली कहा है—

"पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती। यज्ञं वष्टु धियावसुः॥
चोदयित्री सुनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्। यज्ञं दधे सरस्वती॥
महो अर्णः सरस्वती प्रचेतयति केतुना। धिया विश्वा वि राजति[1]॥"

अतः वैदिक सम्प्रदाय में यह विद्या, ज्ञान और यज्ञकर्म आदि की द्योतक है (ऋ० ६।६१; १०।१४१।५ आदि भी देखें)। **अश्विनौ**—ये युगल देवता हैं। ऋग्वेद में ये इन्द्र, अग्नि और सोम के पश्चात् आते हैं। इन सूक्तों में बहुत से चमत्कारों का वर्णन पाया जाता है। इन के वास्तविक स्वरूप के विषय में विद्वानों ने बड़ा विचार किया है। वस्तुतः कोई एक अर्थ या दृश्य आदि इन के समस्त मन्त्रों की संगति नहीं लगा सकता है। इसी दृष्टि से ब्राह्मणग्रन्थों में इस पद के अनेक अर्थ दिए गए हैं। शतपथब्राह्मण ४।१।५।१६ में अग्नि और आदित्य से युक्त पृथिवी और द्युलोक को पुष्करस्रजौ अश्विनौ कहा है। इस पद के अन्य अर्थों में श्रोत्र, नासिका, अध्वर्यू, देव-भिषज् भी आते हैं। श्रीमैक्डोनल इन्हें प्रकाश के देवता मानते हैं और इस

---

१. ऋ० १।३।१०—१२

पद की व्युत्पत्ति 'अश्व + इन्'—घोड़े वाला देते हैं। यास्क (नि० १२।१) के कथनानुसार कुछ आचार्य इन्हें अहोरात्र, कुछ सूर्याचन्द्रमसौ और कुछ पुण्य कर्म करने वाले दो राजा मानते हैं। प्रकरण में इन में से कोई अर्थ संगत नहीं होता है। द्यावापृथिवी आदि जड़ वस्तुएं चेतन ब्रह्मचारी को मेधा प्रदान करने में समर्थ प्रतीत नहीं होतीं। अध्वर्यु के अर्थ मन,[1] चक्षु,[2] और प्राण, उदान[3] दिए गए हैं। मन और चक्षु ज्ञानेन्द्रिय हैं। वे विषयों का साक्षात्कार कर मानव के ज्ञान और उस के द्वारा मेधा को बढ़ाते हैं। भाव यह है कि मन और चक्षु से विषयों का ज्ञान यथार्थ हो और वह ब्रह्मचारी के स्वभाव पर गहरा प्रभाव डाल सके।

(iii) स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अश्विनौ के अनेकविध अर्थों में 'अध्यापक और उपदेशक' अर्थ भी दिया है। प्रकरण में यही अर्थ सब से अधिक संगत है। उपनयन के समय यदि बालक अध्यापक और उपदेशक से ज्ञान और स्मरणशक्ति बढ़ाने के उपायों—योग आदि के निरन्तर उपदेश की प्रार्थना करे तो उपयुक्त ही है। अश्विन्-शब्द √अश् व्याप्तौ से बनता है और अध्यापक तथा उपदेशक का वाचक बन जाता है।

(iv) हठयोग के षट्कमल और कुण्डलिनी के सिद्धान्तों की दृष्टि में अश्विनौ को प्राण और अपान भी माना जा सकता है। दस० ने 'इमं मे गंगे यमुने' आदि मन्त्रों में हठयोग का दर्शन किया है। देखो ऋभाभू० पृ० ३७६। **पुष्करस्रजौ**—श० ७।४।१।१३ के अनुसार अपस् के रस को ऊपर कर के उस को पुर-वत् रक्षक बनाना 'पुष्कर' है। **अपस्** के अर्थ 'प्राण, अमृत, शान्ति, प्रतिष्ठा, श्रद्धा, यज्ञ, सर्वे देवाः' आदि हैं। उधर पुष्करपर्णम् (पुष्कर का पत्ता) के अर्थ प्रतिष्ठा और वाक् भी हैं। अतः पुष्करस्रजौ का अर्थ प्रतिष्ठा और वाक् से सम्पन्न व्यक्ति हैं। संचं० का 'कमल की मालाओं से सजे हुए' अर्थ बहुत शोभन नहीं है।

---

१. श० १।५।१।२१ २. कौ० १७।७ ३. श० ५।५।१।११

६२. **अंगान्यालभ्य जपति**—यह अंगस्पर्श पारस्करीय नहीं है, परन्तु इन सूत्रों में यह अंश परिशिष्ट रूप में ग्रहण किया गया है और इसी लिये कोष्ठकों में रक्खा गया है। पारस्करीय शाखा में यह कब से स्वीकृत हुआ यह जानना संभव नहीं जान पड़ता। अन्य सूत्रकारों ने इस का विधान माना है। दस० ने यहाँ प्रत्येक इन्द्रिय के लिए पृथक्-पृथक् वाक्य दिया है। यथा ॐ "वाक् म आप्यायताम्। ॐ प्राणश्च म आप्यायताम्। ॐ चक्षुश्च म आप्यायताम्। ॐ श्रोत्रं च म आप्यायताम्। ॐ यशो बलं च म आप्यायताम्॥" जयराम ने भी 'तत्र वाक् च म आप्यायतामिति क्रियाविपरिणामं कुर्यात्' लिख कर दस० के समान प्रत्येक इन्द्रिय के लिए पृथक्-पृथक् वाक्य की योजना का विधान माना है।

(ii) **आलभ्य**—आ+√लभ्+ल्यप्। चारों ओर से प्राप्त कर के =स्पर्श कर के। इस धातु के अर्थ में कालान्तर में परिवर्तन हो गया और आ+√लभ् हिंसा-अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। तु० क० सुरभितनयालम्भजां रन्तिदेवस्य कीर्तिम्। मेघ० १।४६। इस अर्थपरिवर्तन के कारण अघ्न्य पशुओं का वध कर उन्हें यज्ञों में डालना प्रारम्भ हुआ। वैदिक विषयों और तत्सम्बन्धी स्थलों पर आ+√लभ् का पूर्वोक्त मूल अर्थ ही लगाना उचित प्रतीत होता है। **जपति**—तज्जपस्तदर्थभावनम्। योगदर्शन के इस सूत्र के अनुसार किसी विषय के भाव या अर्थ को मन में विचारना, धारण करना ही जप है। अतः मन ही मन (—उपांशु या मौन रूप में) किसी विषय या मन्त्र आदि का पुनः पुनः उच्चारण करना जप नहीं है। यहां पर 'वाक् च म आप्यायन्ताम्' आदि के जप में क्रिया के साथ 'वाक्' आदि की वृद्धि की भावना भी मन में धारण करनी अभीष्ट है।

तिलक लगाना

६३. **त्र्यायुषमिति**—भाष्यकारों के मत में 'प्रतिमन्त्रम्' का अर्थ 'त्र्यायुषम्' के चार पाद हैं। प्रत्येक पाद से एक-एक क्रिया करे। 'त्र्यायुषं जमदग्नेः' से ललाट पर, 'कश्यपस्य त्र्यायुषम्' से ग्रीवा में, 'यद्देवेषु त्र्यायुषम्'

से दाहिने कन्धे पर (अथवा दोनों बाहुओं के मूल में–शुकदेव) और 'तन्नो अस्तु त्र्यायुषम्, से हृदय पर राख से 'त्रिपुण्ड्र तिलक' लगाए। परन्तु यदि विधान-कर्त्ता का यही अभिप्राय होता तो वे प्रतिपादम्' पद का प्रयोग करते। अतः सम्भव है कि उन्हें यहां चार मन्त्र अभिप्रेत हों। जिन की परम्परा अब विस्मृत हो गई है। इन में से दो काण्व यजुर्वेद संहिता में प्राप्त 'येन धाता बृहस्पते-रिन्द्रस्य चायुषेऽवपत्। तेन ते वपामि ब्रह्मणा जीवातवे जीवनाय ॥ दीर्घायुत्वाय बलाय वर्चसे। सुप्रजास्त्वाय चासा अथो जीव शरदः शतम्' ॥ (३।७५–७६) और एक माध्यन्दिन यजुर्वेद संहिता का ३।६३– 'शिवो नामासि स्वधितिस्ते पिता नमस्ते अस्तु मा मा हिँसीः। निवर्त्तयाम्यायुषेऽन्नाद्याय प्रजननाय रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय ॥' हो सकते हैं। कर्क आदि सभी भाष्यकारों का विचार है कि **अंगालम्भन और त्र्यायुषतिलक-करण पारस्कर आचार्य को अभिमत नहीं है** और इसी लिए उन्हों ने इस का विधान नहीं किया है। इस विधि में ये दोनों प्रयोग परम्परा से शिष्टों में प्रचलित होने से अन्य ग्रन्थों से ले कर यहां सम्मिलत कर दिए गए हैं।

त्र्यायुषं जमदग्नेः का अर्थ

(ii) इन मन्त्रों के अर्थ इस प्रकार है—

[**जमदग्नेः**] परम गतिशील जनों का [**त्र्यायुषम्**] विद्या, बुद्धि, और धर्माचरण से प्राप्त शुद्धि, बल और पराक्रम का गुण [**कश्यपस्य**] क्रान्तदर्शी अध्यापकों का [**त्र्यायुषम्**] श्रवण मनन और निदिध्यासन का गुण और [**यत्**] जो [**देवेषु**] विद्वानों का [**त्र्यायुषम्**] चार आश्रमों, चार वर्णों और परोपकार का गुण (है) [**तत्**] वह [**त्र्यायुषम्**] तीन प्रकार का गुण [**नः**] मुझे [**अस्तु**] प्राप्त हो जाए।

(iii) **देवेषु**—शतपथब्राह्मण में विद्वानों को 'देव' कहा गया है। **त्र्यायुषम्**—आयु की व्युत्पत्ति √इ धातु से दी जा चुकी है। जो प्राप्त हो वह आयु है। अतः यह गुण का वाचक है। देखो य० ३।६२ में दस०

का भाष्य। त्रिविध गुण का व्याख्यान प्रत्येक स्थल पर 'देव' 'जमदग्नि' और 'कश्यप' के अर्थों के अनुरूप करना होगा। विद्वान् आश्रमों और वर्णों के धर्मों का पालन कर के अपने को उन्नत कर राष्ट्र और मानव जाति का उपकार करते हैं—तु० क० यदि द्विवृषोऽसि सृजारसोऽसि ॥ अवे० ५।१६।२। **जमदग्नः**—शतपथ ब्राह्मण में संसार के द्रष्टा और मनन करने वाले को जमदग्नि ऋषि कहा है। वहां इस का अर्थ प्रजापति भी किया गया है। यास्क ने इस का व्याख्यान 'प्रजमिताग्नयो वा प्रज्वलिताग्नयो वा' किया है। 'प्रजमित' के स्थान पर दस० ने 'प्रजवित' (य० ३।६२ का भाष्य) और डा० फतहसिंह ने 'प्रयमित' (वैए० २६४) पढ़ा है। तीनों पद क्रमशः √जम् भक्षण करना, √जव् जाना (निघं० २।१४।१०५), √यम् उपरमे (वश में करना आदि) से बनते हैं। अतः दुर्गुणों का नाशक, प्रगतिशील संयमी यज्ञमय पुरुष। ऐसा व्यक्ति ही राष्ट्र का चक्षु होता है। इस लिए उस का गुण 'विद्या बुद्धि और धर्माचरण से विशिष्ट शुद्धि बल और पराक्रम' होता है।

(iv) **कश्यपस्य**—तैत्तिरीय आरण्यक में 'कश्यपः पश्यको भवति' कह कर इसे √दृश् से व्युत्पन्न किया है। देखने वाला, अतः क्रान्तदर्शी। प्रकरण ब्रह्मचर्यव्रतधारण का है। अतः यहां 'अध्यापक' का बोध ही अभिप्रेत है। कश्यप प्रजापति और आदित्य का भी नाम है। इस पद के प्रयोग से 'प्रजापति के सदृश, अखण्ड, सत्य ज्ञान वाला, क्रान्तदर्शी अध्यापक' भाव द्योतित किया गया है। वैए० २२८; दस० य० ३।६२ का भाष्य, ऋभाभू० पृ० ३७१। श्रवण मनन और निदिध्यासन से ही मनुष्य 'कश्यप' या क्रान्त द्रष्टा बन सकता है।

येन धाता मन्त्र का अर्थ—

(ii) [**धाता**] ईश्वर ने [**येन**] जिस (वेदज्ञान) से [**बृहस्पतेः**] वेदज्ञान के पारंगत [**च**] और [**इन्द्रस्य**] परमैश्वर्यशाली ब्रह्मचारियों को [**आयुषे**] गुणप्राप्ति के लिए [**अवपत्**] प्रवृत्त किया है (श०—बोया है)

[तेन] उस [ब्रह्मणा] वेदज्ञान से [ते] तुम्हारी [जीवनाय] आयु को [जीवातवे] गतिशील बनाने के लिए [वपामि] धारण करता हूं।

(vi) यह काण्वसंहिता का मन्त्र है और माध्यन्दिन में उपलब्ध नहीं होता है। **अवपत्**—√ वप् बोना से लङ् लकार प्रथम पु० एक व०। बोना, स्थापित करना, जमाना, धारण करना, धारण कराना। अतः हिन्दी अनुवाद। तु०क०—'तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत।' प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार ईश्वर ने वेदों का प्रकाश सृष्टि के आरम्भ में मानव के कल्याण के लिए दिया था। **जीवातवे**—जीने के लिए। यह √ जीव् से तुमर्थ में वैदिक रूप है। **जीवनाय**—जीवन के लिए। दोनों पदों के प्रयोग से अर्थ में पुनरुक्ति आ जाती है। अतः जीवातवे को गत्यर्थ में लिया गया है। प्राणधारण गति ही है। जीवन = जल = रस = अमृत—इस प्रकार जीवनाय का अर्थ 'रस और अमृत की प्राप्ति के लिए' भी किया जा सकता है।

(vii) दीर्घायुत्वाय मन्त्र का अर्थ

[अथो] और [असौ] यह (मैं) [दीर्घायुत्वाय] चिर काल व्यापी जीवन [बलाय] बल [वर्चसे] तेज [च] और [सुप्रजास्त्वाय] कल्याण-कारिणी विश्वज्योति की प्राप्ति के लिए [शतम्] सैकड़ों [शरदः] वर्ष [जीव] जी सकूं॥

(viii) **सुप्रजास्त्वाय**—प्रजा के अर्थ के लिए ऊपर सूसं० ५५ की टिप्पणियां देखें। **शतम्**—इसे उपलक्षण लेना उचित होगा। तु० क०—भूयश्च शरदः शतात्। त्र्यायुषं जमदग्नेः मन्त्र के भाष्य में दस० ने तीन सौ और उस से भी अधिक दिन के जीवन की कल्पना की है। **असौ, जीव**—इन दोनों में पुरुष का व्यत्यय अभीष्ट है। प्रकरण के अनुसार इन को उत्तम पुरुष में लिया गया है।

(ix) शिवो नामासि मन्त्र का अर्थ

[ते] तुम्हारा [नाम] नाम [स्वधितिः] अपने ज्ञान से धारण (अथवा—

प्रसन्न) करने वाला [पिता] रक्षक (और) [शिवः] कल्याणकारी [असि] है। [नमः] (मेरा) अध्ययन-यज्ञ [ते] तुम्हारे लिए [अस्तु] हो। [मा] मुझे [मा हिंसीः] पीडित न करो (अर्थात्—दुर्बोध न हो)। [आयुषे] गतिशील जीवन [अन्नाद्याय] ज्ञान और शान्ति आदि भोगों के उपभोग [प्रजननाय] (खोजों द्वारा) नई-नई सृष्टि [रायस्पोषाय] विद्या आदि धन की समृद्धि रूप महिमा [सुप्रजास्त्वाय] कल्याणकारिणी विश्वज्योति (और) [सुवीर्याय] कल्याणकारिणी दाहक शक्ति (की प्राप्ति) के लिए [निवर्तयामि] पूर्ण रूप से (ब्रह्मचर्य व्रत का प्रतीक रूप त्रिपुण्ड्र तिलक) लगाता हूं।

(x) **नाम**—√नम् से। पर्यवसान, स्वरूप की पूर्णता। **शिवः**—श० ६।७।३।१५ में इसे √शम् शान्त करना से, पपाउ० १।१५३ में √शी सोना से (तु० क० दस० भाष्य) और संशकौको० में √शो से व्युत्पन्न किया गया है। इसे 'शि' से 'वन्' लगा कर भी व्युत्पन्न किया जा सकता है। कतिपय विद्वान् इस पद को अनार्य भाषाओं से आया हुआ मानते हैं। पौराणिक शिव को भी वे अनार्य देवता मानते हैं। परन्तु संहिताओं में इस पद के प्रचुर प्रयोग, शिवपूजा का बीज त्र्यम्बक = नारिकेल में होने से[1] यह विचार समीचीन नहीं मालूम पड़ता। **असि**—अस्ति। पुरुषव्यत्यय। **स्वधितिः**—निघं० २।२०।१६ में इसे वज्रनामों में पढ़ा गया है। भाष्यकारों ने सामान्यतः यही अर्थ ग्रहण किया है। दस० ने ऋ० १।१६२।६ में स्वेन धृतौ (द्विवचन) और ऋ० १।१६२।१८ में विद्युत् अर्थ किए हैं। ऋ० ६।६६।६ में स्वधितिर्वनानाम् का प्रयोग गीता के 'वेदानां सामवेदोऽस्मि' (१०।२२) के समान हुआ है। अतः यहां यह किसी वृक्ष (अश्वत्थ?) (तु० क० अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम्—गी० १०।२६) का वाचक है। ऋ० १०।६२।१५ में इसे इन्द्र का विशेषण मानना समीचीन प्रतीत होता है। ऋ० २।२।१०; ३।८।६, और ५।७।८ में यह 'ज्ञान—वेदज्ञान' का वाचक प्रतीत होता है।

---

१. देखो कोकोनट इज़ दी ओरिजन ऑफ शिवकल्ट, एस० के० गुप्त, आइओका० १६४८ (संक्षेप)।

(xi) पदपाठकारों ने इस का स्वरूप स्वऽधितिः माना है। धिति-शब्द √धि धारण करना अथवा √धिन्व् प्रसन्न करना से व्युत्पन्न होता है। (देखो विको० पृ० ५१६ स्तम्भ २, धित और धिति पद)। अतः इस पद का प्रकरण की दृष्टि में अपने ज्ञान से धारण और प्रसन्न करने वाला अर्थ किया गया है। अन्य अर्थ प्रकरण में पंगु-से प्रतीत होते हैं। **नमः**—इस का अर्थ 'नमस्ते', 'प्रणाम' भी किया जा सकता है। श० २।४।२।२४; ७।४।१।३० में इस का अर्थ 'यज्ञ' दिया गया है। अतः यहां अध्यापन-यज्ञ अर्थ ग्रहण किया गया है। **हिंसीः**—दुर्बोध वस्तु पीडित करने वाली होती है। भाव यह है कि मेरा अध्ययन का परिश्रम सफल हो। यह पद √हिंस् से लुङ् मध्यम पु० एक व० का रूप है। 'मा' के प्रयोग के कारण 'अट्' का लोप हो गया है। **निवर्तयामि**—मन्त्र का विनियोग त्रिपुण्ड्र लगाने में किया गया है। अतः अनुवाद में यही भाव ग्रहण किया गया है।

त्रिपुण्ड्र लगाना अनावश्यक

(xi) त्रिपुण्ड्र को यज्ञोपवीत के समान ही तीन ऋणों आदि का द्योतक चिह्न माना गया है। यदि इस का लक्ष्य यज्ञोपवीत के लक्ष्य से अभिन्न है तो यह कर्म अनावश्यक है। संभवतः इसी कारण पारस्कराचार्य ने इस का विधान नहीं किया है। वैसे भी यह क्रिया वैदिक प्रतीत नहीं होती। **अन्नाद्याय**—तां० १३।६ में अन्न को 'वाज.' और ऐ० ५।२७ में 'शान्तिः' कहा गया है। अत्तुं योग्यमाद्यम्—भक्षण, उपभोग के योग्य। **प्रजननाय**—उत्पन्न करने के लिए। ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य काल में पुत्र आदि उत्पन्न नहीं करता है। अतः हिन्दी अनुवाद। **रायस्पोषाय**—ब्रह्मचारी का धन विद्या है। उसी की पुष्टि या समृद्धि अभीष्ट है। श० ३।५।२।१२ में 'भूमा' (महिमा) को 'रायस्पोषः' कहा गया है। **सुवीर्याय**—कल्याणकरी वीर्य=शक्ति के लिए। तै० १।७।२।२ में 'अग्नि' को वीर्य कहा है। अतः उस में 'दाहक' का भाव निहित है। अतः हिन्दी अनुवाद।

अभिवादन

६४. यहां भाष्यकारों ने अभिवादन का भी विधान माना है। मूल में उस का कोई निर्देश नहीं है।

भिक्षा मांगने की रीति

६५–६७—**भवत्पूर्वाम्**—भाव यह है कि ब्रह्मवर्चस् का इच्छुक भिक्षा मांगते समय 'भवान्/भवती भिक्षां ददातु' कहे, क्षात्र तेज का इच्छुक 'भिक्षां भवान्/भवती ददातु' और वैश्यगुणों में कौशल का अभिलाषी 'भिक्षां ददातु भवान्/भवती' का प्रयोग करे। यहां पर भाष्यकारों ने भवति भिक्षां देहि, भिक्षां भवति देहि और भिक्षां देहि भवति का सम्बोधन बताया है। गदाधराचार्य के मत में भिक्षा अपने वर्ण के कुलों से ही मांगनी चाहिए। संभवतः वे मानते हैं कि उपरोक्त सम्बोधन से प्रत्येक गृहस्थ ब्रह्मचारी के वर्ण को जान कर अपने वर्ण के ब्रह्मचारी को भिक्षा दे देगा। परन्तु वर्णों का ऐसा दृढ़ वर्गीकरण पीछे का है, वैदिक काल का नहीं है। अतः ये प्रयोग ब्रह्मचारी की विद्याविशेष के ही द्योतक माने जा सकते हैं।

६८–६९. **तिस्रः**—माता आदि मांग पूर्ण करने वाली तीन, छै, बारह या (आवश्यकतानुसार) अनेकों ऐसी स्त्रियों से भिक्षा मांगे जो देनें में इंकार न करें क्यों कि इंकार से बालक के मन में क्षोभ होता है। दस० ने माता, पिता, बहन, भाई, मामा, मौसी, चाची आदि से भिक्षा मांगना बताया है।

७०. माता कभी भिक्षा के लिये इंकार नहीं करती। अतः उस से ही सब से पहले मांगा जाता है।

७१. **निवेदयित्वा**—मांगने पर मिली समस्त भिक्षा को आचार्य को दे कर, उस द्वारा दिए भाग से क्षुधाशान्ति कर वाणी को संयम में रक्खे, कम और संयत पद बोले अथवा मौन रहे (?)। सूसं० ७२ की दृष्टि में यहां

मौन रहना अभीष्ट प्रतीत होता है। कर्काचार्य इस मौन को वैकल्पिक समझते हैं।

वनस्पतियों में जीव

७२. **अहिंसन्**—नञ्+√हिंस्+शतृ+पु० प्रथमा एक व०। हिंसा न करते हुए। अर्थात् बिना काटे हुए। प्राचीन भारतीयों के मत में वृक्ष आदि में भी जीव होता है—तु० क०—मनु० १।४६

"तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना।
अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः॥"

वेद में भी वनस्पति का चेतन अग्नि से तादात्म्य कर के इस भावना का सूत्रपात किया गया प्रतीत होता है। (देखो ऋ० १०।११०।१० आदि)। अतः काटने से वृक्षों को पीड़ा पहुंचती है। ब्रह्मचारी अहिंसाप्रमुख यम-नियम आदि का व्रत लेता है। अतः वह वृक्षों को भी कष्ट नहीं पहुंचा सकता है। ऐसी परिस्थिति में सूख कर निर्जीव हो गई शाखा आदि को लाना ही यहां अभीष्ट है। **अरण्यात्**—समिधाएं जंगल से बीन कर लानी हैं, बस्ती में से मांग कर नहीं। बस्ती में से मांगने में गृहस्थों पर अनावश्यक भार, ब्रह्मचारी में अत्यधिक परनिर्भरता की भावना, जंगल में जाने से वहां का व्यायाम और शुद्ध वायु से वञ्चित रहना आदि दोष हैं। अरण्य[1] √ऋ से व्युत्पन्न होने के कारण ज्ञान का द्योतक है। अतः अरण्य से समिदाहरण में व्यञ्जना से यह अर्थ भी उपलब्ध होता है। **समिधम्**—समिध् से द्वितीया एक व०। **समिधः**—पा० भे०। यह बहुवचन का रूप है। **तस्मिन्**—उसी पूर्व की अग्नि में जिस के समक्ष यज्ञोपवीत धारण की क्रियाएं की गई थीं। **पूर्ववत्**—पहले के समान परिसमूहन, पर्युक्षण और समिधाधान कर के प्रज्वलित अग्नि में यहां के लेखानुसार समिधा दें। अब ब्रह्मचारी बोल सकता है। **आधाय**—आ+√धा+ल्यप्। पं० सुखदेव ने यहां उपनयन की दक्षिणा में एक गाय

१. देखो वेभाप० ७।२।

का विधान माना है (—गो० गृ० सू० २।१०।५०) जो नितान्त अप्रासंगिक और अवैदिक है। दक्षिणा ब्रह्मचर्यकाल की समाप्ति पर देने की परिपाटी लक्षित होती है। देखो रघु और कौत्स का आख्यान।

उपनयन के समय किए जाने वाले उपदेशों का प्रयोजन

७३. ये विधान स्वास्थ्य, वीर्यरक्षा[1] तथा क्रियाशीलता की दृष्टि से किए गये हैं। दस० ने संस्कारविधि में इस अवसर पर दिये जाने वाले और भी उपदेश संकलित किए हैं।

७४. ये विधान शरीररक्षा, चरित्र में भद्रता और ज्ञान की प्राप्ति की दृष्टि से किए गए हैं। दण्डधारण से अपनी और अन्यों की रक्षा सम्भव होती है। अग्निपरिचरण[2] (=हवन) से शारीरिक और आत्मिक शुद्धि होती है। गुरुसेवा से ज्ञान मिलता है—'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया वा'। वस्तुतः ज्ञानप्राप्ति में तीनों ही आवश्यक हैं। भिक्षा से अपना और गुरु का तथा अन्यों का निर्वाह होता है। ये दैनिक कृत्य हैं।

७५. ये विधान चरित्रनिर्माण के लिए किए गए हैं। दुर्गुणों से बचना मनुष्य का प्रमुख कर्तव्य है। मानव की प्रवृत्ति निम्नगामी है। ये सब कर्य निम्न हैं। बालक की प्रवृत्ति को उच्च बनाने के लिए इन सब से उसे बचाना आवश्यक है यद्यपि गुरुकुल में आचार्य इन का अभाव उत्पन्न कर सकता है। परन्तु बालक मन में भिक्षाकाल में और एकान्त समय में इन कर्मों का चिन्तन और आचरण कर सकता है। अतः ये उपदेश दिए गए हैं। स्वामी शिवानन्द की पुस्तक ब्रह्मचर्य ही जीवन है' में इन उपदेशों की विस्तृत व्याख्या की गई है। **मधु**—शराब। **मांस**—यहां पर पशुओं आदि का

---

१. पं० सुखदेव ने 'अक्षारलवण' का अर्थ 'सेंधा नमक' किया है।

२. पं० सुखदेव ने इस का भाव यह लिखा है—'जिस अग्नि को स्थपन कर आचार्य उपनयन संस्कार का आरम्भ किए हों उस को सुरक्षित रक्खे और सायं प्रातः उसी अग्नि में समिध की आहुति प्रदान करे।'

उन के वध द्वारा प्राप्त मांस अभिप्रेत है, ब्राह्मणग्रन्थों के उत्तम भोजन या पदार्थ नहीं। वेद में मांसभक्षण को बहुत निकृष्ट दृष्टि से देखा गया है। तु० क० 'कृतान्ताय गोघातम्' (य० ३०।१८) तथा 'यो नो रसं दिप्सति पित्वो अग्ने यो अश्वानां यो गवां यस्तनूनाम्। रिपुः स्तेनः स्तेयकृद् दभ्रमेतु नि ष हीयतां तन्वा तना च' ॥ ऋ० ७।१०४।१० । मांस रजोगुण और तमोगुण का बढ़ाने वाला होने से वर्ज्य माना गया है। **मज्जन**—भाष्यकारों ने 'ह्रददेवतीर्थस्नान' का निषेध माना है। शरीररक्षा की दृष्टि से गहरे, तेज़ धार वाले, मगर आदि से व्याप्त जल में स्नान का और अतिशय स्नान का निषेध ही अभिप्रेत प्रतीत होता है। **उपर्यासन**—चारपाई आदि। इस के निषेध का प्रयोजन विलासमय जीवन से बचाना प्रतीत होता है। **स्त्रीगमन**—इस के द्वारा आठ प्रकार के मैथुनों का निषेध अभिप्रेत है। इस का निषेध वीर्यरक्षा के लिए है। स्त्रियों के फेर में पड़ कर मनुष्य उदात्त लक्ष्यों में विफल हो जाता है। इसी लिए उसे नरक का द्वार कहा गया है। सामान्यतः अधिकांश स्त्रियों में पुरुषों की अपेक्षा तमोगुणी प्रवृत्ति अधिक पाई जाती है। कन्याओं के लिए पुरुषगमन वर्जित है। उन के लिए उन्हें पथभ्रष्ट और आसक्ति उत्पन्न करने के कारण पुरुष नरक के द्वार हैं। **अनृत**—झूठ बोलने से पाप में प्रवृत्ति होती है। **अदत्तादान**—जो वस्तु अपनी नहीं है और दूसरे ने दी नहीं है उस का लेना चोरी कहलाता है। चोरी से अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न होते हैं। वह मनुष्य में विकृत वासना उत्पन्न कर उसे कुमार्गगामी कर देती है। इस से बचाने की भावना से ही योगदर्शन में 'अस्तेय' को यमों में रक्खा है। इस उपदेश में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह —इन पांच योगशास्त्र के यमों का मांस, अनृत, अदत्तादान और स्त्रीगमन का निषेध कर विधान किया है।

ब्रह्मचर्यव्रत की अवधि

७६. **अष्टचत्वारिंशद्वर्षाणि**—जयरामाचार्य के मत में ४८ वर्ष में चारों वेदों का अध्ययन रूप एक ही व्रत अभिप्रेत है। उस में सारे वेदों के मन्त्रों

से आहुति दे कर हवन किया जाता है। प्रत्येक वेद के लिए १२ वर्ष की अवधि के निर्धारण में अपने (अधीत ?) वेद की आहुतियां दी जाती हैं। यावद्ग्रहणम् में एक, दो या सब वेदों का अध्ययन अभिप्रेत है।

(ii) स्वामी दयानन्द सरस्वती ने छान्दोग्योपनिषद् ३।१६ की व्याख्या करते हुए ब्रह्मचारियों के तीन विभाग माने हैं[1]—१. वसु—२४ वर्ष की आयु तक ब्रह्मचर्यव्रत का पालन कर वेद पढ़ने वाले २. रुद्र—४४ वर्ष की आयु तक इसी प्रकार पढ़ने वाले और ३. आदित्य—४८ वर्ष की आयु तक इसी प्रकार पढ़ने वाले। पारस्कर के विधान में बालक जल्दी-से-जल्दी ८ वर्ष का वेद पढ़ना प्रारम्भ करता है। इस प्रकार वेदाध्ययन के लिए इस विभाजन में अधिक से अधिक ४० वर्ष माने गये हैं। इस अवस्था में प्रत्येक वेद के लिये १० वर्ष का समय बनता है। सूसं० ७७ में विकल्प में प्रत्येक वेद के लिए १२ वर्ष का समय बता कर उपरोक्त अवधि को बढ़ाया है, अन्यथा यह सूत्र अनावश्यक था। सूसं० ७८ में इस अवधि को और भी बढ़ाया है। प्रथम विधान परम मेधावियों के लिए है, शेष दो विधान अल्पतर और अल्पतम मेधा वालों के लिए हैं। ये अवधियां ब्राह्मण के गुण धारण करने के इच्छुक में तो लागू होती हैं, परन्तु शेष दो—क्षत्रियगुणकामी और वैश्यगुणाभिलाषी में नहीं, क्यों कि उन का उपनयन आठ वर्ष की आयु में नहीं होता है, प्रत्युत ११ और १२ वर्ष की अवस्था में होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वेदाध्ययन सब वर्णों के लिए अनिवार्य होने से आठ वर्ष की आयु में, सब के लिए ही प्रारम्भ हो जाता हो और जो क्षत्रिय और वैश्य गुणों के भी अभिलाषी होते थे उन की इन गुणों से सम्बन्धित शिक्षा पारस्कराचार्य की निर्धारित आयुओं पर प्रारम्भ होती रही हो। कालान्तर में इस प्रणाली में विकार आया और क्षत्रिय और वैश्य के गुणों के अभिलाषियों का वेदाध्यन

---

१. इन ऋषि ने अपने वेदभाष्यों में भी अनेक बार वसु, रुद्र और आदित्य के ये ही अर्थ ग्रहण किए हैं। देखो ऋ० १।४५।१; ६४, ३; ११४, १ आदि।

बड़ी आयु में प्रारम्भ होने लगा। इन दोनों वर्णों के गुणेच्छुओं के लिए वेदाध्ययन की अवधि अल्पकालीन होने और व्यवसायिक शिक्षा के समक्ष लौकिक दृष्टि से गौण स्थान प्राप्त करने के कारण शनैः शनैः वेदाध्ययन इन दोनों वर्णों में से उठ गया। ब्राह्मणेतर वर्णों के शूद्रपदवाच्य वेद के प्रकाण्ड ज्ञाता ब्राह्मणों के लिए एक समस्या बन जाने स्वाभाविक थे। इन दोनों में अनेकों अवसरों पर संघर्ष हुए होंगे। इस स्थिति को समाप्त करने के लिए शिक्षा के लिए उत्तरदायी ब्राह्मणों ने अन्य वर्णों के वेदाध्ययन को क्रमशः घटा कर कालान्तर में उसे निःशेष कर दिया होगा। प्रत्यग्वैदिक काल में वर्णव्यवस्था का आधार जन्मगत हो जाने से वेदाध्ययन के आयोजित इस ह्रास की प्रगति बढ़ जानी स्वाभाविक थी। पहले सब को ब्राह्मण मान कर उपनयन किए जाने की उपरोक्त कल्पना श० ११।५।४ से पुष्ट होती है। इस ब्राह्मण में केवल ब्राह्मण के उपनयन का विधान है, अन्य वर्णों का नहीं। शतपथ २।५।२।६ और ३।६।३।२ से ज्ञात होता है कि उस काल में मानव जाति का एक वर्गीकरण क्षत्रिय और विश् ही थे। अतः उस काल में ब्राह्मण आदि पद जातिवाचक न हो कर गुणवाचक थे। (ऋवे० १०।८।३७ में ब्राह्मणपद का प्रयोग भी देखें।) ऐसी परिस्थिति में ब्राह्मण पद समस्त मानव जाति का द्योतक रहा होगा और उस के लिए विहित नियम सब पर समान रूप में लागू होते रहे होंगे।

(iii) वेदब्रह्मचर्यम्—वेदाय ब्रह्मचर्यम्। वेद पढ़ने के लिए ब्रह्मचर्य व्रत।

वस्त्रों और मेखला के भेद का कारण

७९. शाण०[1]—यजुर्वेद में बहुत से पशुओं को विभिन्न देवताओं से

---

१. पं० सुखदेव ने आश्वलायन गृह्य सूत्र १।१६।६—यदि वासांसि वसीरन्—काषायं ब्राह्मणो माञ्जिष्ठं क्षत्रियो हारिद्रं वैश्यः' के आधार पर ब्राह्मण के लिए गेरुए, क्षत्रिय के लिए मजीठे और वैश्य के लिए पीले वस्त्रों का विधान माना है।

सम्बद्ध कर के उन के गुणों का वर्णन किया गया है, यह भिन्न बात है कि हम उस वर्णन को ठीक-ठीक न समझ पायें। परन्तु शाण और क्षौम आदि के गुणों का कोई वर्णन उपलब्ध प्रतीत नहीं होता। फिर भी उन के गुणों के ज्ञान के आधार पर ही ये सूत्र बने होंगे। इन के परिधान में इन वस्तुओं के गुणों का ध्यान इतना महत्त्वपूर्ण नहीं रहा होगा जितना विद्यार्थी के अध्ययन के विषय का द्योतन। आजकल भी कला, विज्ञान और वाणिज्य आदि के स्नातकों, प्रत्यक्स्नातकों तथा गवेषकों की उपाधियों के लिये विभिन्न वस्त्रों का परिधान निर्धारित है। उत्तरीय और मेखला के भेदों के विधान के भी ये ही कारण हैं।

८०. ऐणेयम्—कृष्णसार मृग का (चर्म)। य० २४।३६ में एणी का सम्बन्ध सर्पों से बताया गया है। श० ७।४।१।२५ में सब के साथ गतिशील होने के कारण लोकों को, तै० २।२।६।२ में देवों को सर्प कहा गया है। कौ० २७।४ में गौः, वाक् और पृथिवी को सार्पराज्ञी कहा गया है। इन गुणों के आधान को ध्यान में रख कर ही एणी के चर्म का परिधान ब्राह्मण के लिए निर्धारित किया गया होगा। परन्तु यह सुस्पष्ट है कि इन परिधानों की प्राप्ति के लिए बहुत से पशुओं का वध आवश्यक रहा होगा। अथर्ववेद के ब्रह्मचर्यसूक्त में इस प्रकार का विधान नहीं है। हो सकता है प्रारम्भ में 'ऐणेय' आदि पद गुणों के द्योतक रहे हों, फिर एणी आदि के बालों और तत्पश्चात् उन के चर्म का प्रयोग किया जाने लगा हो। यह स्थिति अज (=अजन्मा, बकरी) के प्रयोग में सुस्पष्ट है।

(ii) य० २४।८ में 'एन्यः' को 'मैत्र्यः' कहा है। 'ऐणेय' को 'एनी' का रूप भी माना जा सकता है यद्यपि 'एणी' पद की उपस्थिति में ऐसा मानने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। मित्र के अर्थों में सब का मित्र, सत्य का उत्पादक, ब्रह्म, क्षत्रं क्षत्रपति, घोरसंस्पर्श अग्नि, प्राण, वायु, अहः, शुक्ल और कृष्ण पक्ष आदि मिलते हैं।

८१. **रौरवम्**[1]—रुरोः इदमिति रौरवम्। य० २४।३६ में रुरु को रौद्र = रुद्र सम्बन्धी कहा गया है। वैदिक कोष में ब्राह्मणग्रन्थों से रुद्र के अर्थों में रुलाने वाला, अग्नि, पशुओं का पति, स्विष्टकृत्, देवों में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ, घोर, प्राण, मह आदि दिये हैं। रुद्र के रूपों में भव, ईशान, उग्र, अशनि आदि भी हैं। त्र्यम्बक = नारिकेल[2] से उस का पोषक गुण लक्षित होता है। क्षत्रिय में इसी प्रकार के गुण अभीष्ट हैं।

८२ **आजम्**—अजस्य अजाया वा इदमिति आजम्। य० २४।३२ में 'अज' (बकरा) का सम्बन्ध 'पूषा' से बताया गया है। ब्राह्मणों में **पूषा** के अर्थ शूद्रवर्ण, पोषक, पृथिवी, वायु, पुष्टि, सूर्य, अग्नि, अन्न, पशु, रेवती नक्षत्र, विशां विट्पतिः, प्रजनन, मार्गों का अधिपति, ऐश्वर्य का आदाता, ऐश्वर्य का अधिपति, वृषा, देवानां भागदुघः, अदन्तक आदि दिये गये हैं। **गव्यम्**—गोः इदं गव्यम्। गाय का। गो+यत्। यजुर्वेद के पशुप्रकरण में अकेले 'गो' पद का प्रयोग नहीं मिला है। इस के पर्यायवाची 'धेनु' का सम्बन्ध य० २४।१३ में अतिच्छन्दस् से बताया गया है। **अतिच्छन्दस्** के

---

१. रुरु को लाल रंग का बताया गया है (पं० सुखदेव का अनुवाद) संशकौको० ने इसे काला हिरन बताया है। यह विश्वेदेवों के एक गण का नाम भी है। ब्राह्मणग्रन्थों में '**विश्वेदेवाः**' के अर्थ 'समस्त देवता, सूर्य की किरणें, प्राण, ऋतुएं, इन्द्राग्नी, श्रोत्र, दिशाएं उपद्रव, प्रजापति के पुत्र, वैश्य, विश्, पशु, अश्व, गो, अन्न, सब कुछ' आदि दिये गये हैं। इस से क्षत्रिय में तेज, प्राणसारता, सब पर शासन, सब प्रकार के गुण, ऐश्वर्य, गतिशीलता, जागरूकता, व्याप्ति, उग्रता, प्रजापालन आदि गुणों के धारण की भावना प्रकाशित की गई है। वह अपने आप को वैश्य ही समझे। उस से भिन्न नहीं, क्यों कि विश्—समस्त प्रजा—वैश्य है। इस मूलभूत एकता की उपेक्षा से ही आर्य जाति में ऊंच-नीच की भावना उत्पन्न हो कर अनर्थ हुआ है। २. देखो कोकोनट (त्र्यम्बक इन दी ऋग्वेद) इज़ दी ओरिजन ऑफ शिवकल्ट, आइओका० १९४८ (सं०)।

अर्थ 'उदर, ऋक्, छन्दों का रस, लोक और वर्ष्म आदि दिए गए हैं। 'गो' शब्द से मिलते हुए 'गोमृग' का सम्बन्ध य० २४।१ और २४।३० में प्रजापति और वायु से तथा गवय का य० २४।२८ में बृहस्पति से सम्बन्ध बताया गया है। **प्रजापति** के अर्थ 'प्रजापालक, अग्नि, इन्द्र, हृदय, मन, वाक्, वाक्पति, संवत्सर, यज्ञ, अश्वमेध, विश्वजित्, सविता, प्राण, अन्न, वायु, प्रणेता, भूत, बन्धु, ब्रह्मा, चन्द्रमा, सोम, वसिष्ठ, विश्वकर्मा, व्योम, सुपर्ण गरुत्मान्. मूर्धा, सदस्य, उद्गाता, उद्गीथ, अथर्वा, सत्य, गार्हपत्य, आत्मा, पुरुष, यजमान, पितरः, प्रजनन, सब का धारक, विप्र, क्षत्र, चित्पति, ये लोक, यह सब कुछ, अतुलनीय, देवों में अन्नाद और वीर्यवान्, अमृत, पूर्ण' आदि, **वायु** के अर्थ पवन, सब का विवेचक, कामनायुक्त, अनुवत्सर, देव, ब्रह्म, बृहस्पति, पवित्र, इन्द्र, मित्र, यम, यन्ता, जातवेदस्, सब कुछ का करने वाला, तेज, पूषा, तार्क्ष्य, तीनों लोकों में वर्तमान, सविता, सोम, विश्वकर्मा, चन्द्रमा, प्राण, उग्र, पुरोहित, महः, यज्ञ वाक्, देवों की आत्मा, शान्ति और **बृहस्पति** के अर्थ वाणी का पति, वाणियों का उत्पादक, वायु, प्राण, अपान, चक्षु, द्युम्न (=धन), ब्रह्म, देवों का ब्रह्मा, देवों का उद्गाता, देवों का पुरोहित आदि मिलते हैं। अतः यहां पर पोषक, समृद्धिजनक, शान्ति, यात्रा आदि के गुण अभीष्ट हैं।

सब वर्णों की एकता

(ii) उपरोक्त देवताओं के वाचक अर्थों से एक बात अनायास ही स्पष्ट हो जाती है कि सब वर्णों में अधिकांश गुण समान ही अभिप्रेत हैं। उन में मूलभूत एकता है। उन में भेद किसी एक वा अधिक गुणों की ओर प्रवृत्ति के कारण ही किया जाता है। ऐसी परिस्थिति में ब्राह्मण आदि पद केवल गुणवाचक ठैरते हैं, जातिविशेषों के द्योतक नहीं। मानवों में जो वर्गीकरण उन के कर्म या व्यवसाय के आधार पर होता था वह ही मूलतः उन का वर्ण रहा हो सकता है।

८३. **असति**—√अस्+शतृ+सप्तमी एक वचन, नपुंसक०। अपने-अपने वर्ण के लिए नियत चर्मों के अभाव में। **प्रधानत्वात्**—यहां

पर हेतु में पञ्चमी है। 'गव्य' के सब अजिनों में प्रमुख होने के कारण। इस की प्रमुखता इस के विषय में दिए गए ऊपर के वर्णन से सुस्पष्ट है। इस से सम्बन्धित देवताओं के अर्थों से प्रकाशित गुण सब वर्णों में घट जाते हैं। अतः ऐणेय, रौरव और आज चर्मों के' न होने पर 'गव्य' चर्म का प्रयोग किया जा सकता है। यहां पर पारस्कर आचार्य को 'गो' का अर्थ पशुमात्र भी अभिप्रेत हो सकता है, गाय मात्र नहीं। भाष्यकारों ने यह अर्थ भी दिया है कि देवों ने पुरुष के चर्म को गाय पर रख कर उसे पुरुषप्रधान बना दिया है। तु० क०—पुरुषप्रधानत्वात् गव्यस्य चर्मणः। पुरुषप्रधानं हि गव्यं चर्म श्रुतौ पठ्यते। तेऽवच्छाय पुरुषं गव्येतां त्वचमदधुरिति। —कर्कभाष्य।

८४—८६. संचं० में मेखलाधारण के लाभों में आन्तों के उतरने से रक्षा और शरीर में चुस्ती लाना दिए हैं। पारस्कराचार्य ने ब्राह्मण की मेखला मूंज की, क्षत्रिय की धनुर्ज्या की और वैश्य की मूर्वा की बताई है। संशकौको० ने क्षत्रिय की मेखला मूर्वा की मानी है। वहां धनुर्ज्या को मूर्वानिर्मित माना गया है। महर्षि दयानन्द ने ब्राह्मण की मेखला मुंज वा दर्भ की, क्षत्रिय की धनुष्संज्ञक तृण वा वल्कल की और वैश्य की ऊन वा सन की मानी है। (संवि० पृ० ६१ पाटि०)। संचं० में इन घासों के गुण आयुर्वेद के आधार पर दिए हैं। मुंज को मधुर, कषाय, शीतल, त्रिदोषनाशक और वृष्य, दर्भ को त्रिदोषनाशक, मधुर, कषैला और शीतल बताया है। सन को खट्टा, कषैला, मलगर्भ, रुधिर को गिराने वाला, वमन लाने वाला, वात और कफ का शामक तथा तीव्र अंगों के टूटने को दूर करने वाला कहा गया है। मूर्वा के गुण भी इसी प्रकार से आयुर्वेद के ग्रन्थों से जाने जा सकते हैं। ओषधियों को खाने लगाने और पहनने से रोगों को दूर करने में जो सहायता मिलती है वह सुप्रत्यक्ष। इसी दृष्टि से ये मेखलायें धारण की जाती थीं। उपरोक्त घासों के गुणों और ब्राह्मण आदि के कर्मों का सम्बन्ध ज्ञातव्य है।

(ii) **मौञ्जी**—मुञ्जस्य इयं मौञ्जी । **मौर्वी**—मूर्वाया इयमिति मौर्वी । पं० सुखदेव–कास की । भाष्यकारों ने इसे 'मुरु' से व्युत्पन्न किया है । **धनुर्ज्या**—भाष्यकारों नें इसे तान्त को (=स्नायुमयी) या बांस की (वेणुमयी) माना है । दस० ने इसे धनुष् नामक घास बताया है ।

८७ कुशेति—कुश, अश्मन्तक[1] और बल्व[2] भी घासों के नाम हैं । बहुधा कुश और दर्भ को एक ही माना जाता है । ये तीनों क्रमशः ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्यों के गुणों के अभिलाषियों के लिये हैं (हरिहराचार्य) ।

दण्डधारण का प्रयोजन और उस के भेद का विवेचन

८८—९०—संचं० में दण्डधारण के लाभ शरीररक्षा, मेरुदण्ड का सीधा रखना दिए हैं । पलाश आदि के दण्डों का विधान उन के गुणों की दृष्टि में किया गया है । संचं० ने इन के गुण अभिनवनिघण्टु के आधार पर इस प्रकार दिये हैं—**पलाश** दीपन, बलकर्त्ता, दस्तावर, गरम, कषैला, चरपरा, कड़वा, स्निग्ध, व्रण गोले और गुदा के रोगों का नाशक, टूटी हड्डी का जोड़ने वाला, वातादि दोषों, संग्रहणी, बवासीर और कृमियों का नाशक है । **बिल्व** (या बेल) कषाय, कड़वी, ग्राही, रूक्ष, अग्निवर्धक, पित्तकारक, वात और कफ नाशक, बलकारक, लघु, उष्ण और पाचक होता है । **उदुम्बर** या गूलर शीतल, रूक्ष, भारी, मधुर, कषैला, वर्णकारक, कफ, पित्त और रुधिर के विकारों को दूर करने वाला, व्रत का शोधक और रोचक होता है । इस प्रकार इन वृक्षों के दण्डों का धारण कतिपय रोगों का प्रतिरोधक है । संचं० का कहना है कि इस दण्डधारण से वनस्पतियों के प्रयोग का ज्ञानसंग्रह भी होता है, परन्तु यह लाभ प्रत्यक्ष नहीं है । विभिन्न वर्णों के लिए विभिन्न वृक्षों के दण्डों का विधान उन के गुणों से समता की दृष्टि में किया जाना स्वाभाविक था । उपरोक्त आयुर्वेदिक गुणवर्णनों से यह साम्य सुव्यक्त नहीं

१.–२. पं० सुखदेव ने श्मन्तक पाठ रख कर बेरहुंट अर्थ और बल्व का अर्थ कास किया है ।

होता। ऐसा प्रतीत होता है कि मौञ्जी, धनुर्ज्या और मौर्वी तथा पलाश, बैल्व और औदुम्बर पदों का ऐणेय आदि के समान अग्नि, रुद्र और पूषा आदि देवताओं से सम्बन्ध है। उसी के आधार पर ये विधान किए गये हो सकते हैं। ये प्रस्तावित सम्बन्ध मृग्य हैं।

६१. पलाश आदि के गुणों में साम्य होने के कारण कोई भी वर्ण किसी भी वृक्ष का दण्ड धारण कर सकता है।

(ii) अजिन, मेखला और दण्ड के ये वैकल्पिक सूत्र गृह्यसूत्रों से पहले के काल में समस्त वर्णों की एकता और सब के लिए एक जैसे विधान की सत्ता के द्योतक हैं। इन सूत्रों से यह भी स्पष्ट है कि ऐणेय आदि का प्रयोग वर्णभाव की दृष्टि से नहीं किया गया है।

वर्णों के लिए दण्डों के विभिन्न माप का कारण

९२. दण्डों के माप का यह विधान पारस्कर आचार्य को अभिमत नहीं है। यह इस में पीछे से मिलाया गया है। संचं० ने इस मापभेद को वर्णभेद का द्योतक माना है। वस्तुतः केश-पद उ० ५।३३ में √क्लिश् से व्युत्पन्न हुआ है। अतः इस के द्वारा कष्टों के सहन करने—तप करने का लक्ष्य सामने रक्खा है[1]। ललाट तक दण्ड के विधान से शारीरिक बल को बुद्धि के अधीन रखने का सन्देश दिया गया है। घ्राण—नासिका प्राण और अपान की प्रतीक है। इस माप में ब्रह्मचारी को राष्ट्र के प्राण बनने का निर्देश किया गया है। वैश्य ही विश्—प्रजा—राष्ट्र के प्राण हैं। वे ही विश्वे देवाः और मरुत् हैं, सब के मित्र भी। प्राण भी विश्वेदेवाः हैं।

(ii) इस मापविधान में एक और भाव भी हो सकता है। योगचूडामण्युपनिषत् ३५ में लिखा है कि कुण्डलिनी को जाग्रत करने से मनुष्य वेदज्ञाता होता है—

१. ध्यान रहे कि जहां ब्राह्मण को तपस्वी माना गया है, वहां य० ३०।५ में शूद्र ही का सम्बन्ध तप से बताया है, ब्राह्मण को नहीं।

"कुण्डलिन्या समुद्भूता गायत्री प्राणधारिणी ।
प्राणविद्यां महाविद्या यस्तां वेत्ति स वेदवित् ॥"

अतः इस मापविधान में कुण्डलिनी को जागृत कर शरीर में कण्ठप्रदेश में स्थित विशुद्धचक्र, भ्रुवों के बीच में स्थित आज्ञाचक्र और शिर में स्थित उड्यानचक्र[1] । (=सहस्रदलकमल) के भेदन की ओर लक्ष्य किया हो सकता है। हरिहराचार्य ने दण्डों के मान को केशों के मूल, भ्रूमध्य और ओष्ठों तक बता कर इसी सुझाव की ओर संकेत किया हो सकता है।

९३. आहूतः—आ+√ह्वे+क्त। बुलाया हुआ। उत्थाय—उद्+√स्था+ल्यप्।

९४. शयानम्—√शी+शानच्+पु० द्वितीया एक व०। आसीनम्—√आस्+शानच्+पु० द्वितीया एक व०।

स्नातक की कीर्ति

९५. अमुत्र—परलोक में विष्णु लोक में जहां भूरिशृङ्ग, और अय गौएं=विद्याएं रहती हैं—यत्र गावो भूरिशृंगा अयासः (ऋ० १।१५४।६)। स्वर्गस्थान, मोक्षस्थान। भाव यह है कि ऐसा ब्रह्मचारी इस लोक में रहता हुआ भी स्वर्ग के सुखों का उपभोग करता है। कुछ, विद्वान् इस में मरने पर मुक्ति की कल्पना करते हैं। परन्तु, मुक्ति इतनी सरल नहीं है। यहां पर 'अमुत्राद्य वसति' की पुनरावृत्ति विषय की महिमा पर बल देने के लिये की गई है। स्नातक—विद्या या व्रत समाप्त कर के गृहस्थाश्रम में आने वाला विद्यार्थी।

स्नातकों के भेद

९६. त्रयः—इन तीनों का व्याख्यान अगले सूत्रों में दिया है। इन में विद्याव्रत स्नातक श्रेष्ठ है, शेष दो समान माने गए हैं—तु० क० तेषामुत्तमः श्रेष्ठस्तुल्यौ पूर्वौ (गोभिलगृह्यसूत्र ३।५।२३—सुखदेव संस्करण)।

---

१. योगशिखोपनिषत् ४।१०–१२।

९७. **वेदम्**—एक या अधिक वेद का अध्ययन। **असमाप्य व्रतम्**—ब्रह्मचर्यव्रतपालन करने की अवधि को पूरा किए बिना ही। भाव यह है कि यद्यपि ब्रह्मचर्यव्रत तो अभी पूरा नहीं हुआ है अर्थात् अभी २४, ४४ या ४८ वर्ष की आयु नहीं हुई है, परन्तु, वेद का जितना अध्ययन अभीष्ट था वह पूरा कर लिया। अतः ब्रह्मचारी अधिक दिन गुरुकुल में न रह कर व्रत की अवधि को अपूर्ण छोड़ कर संसार में जीवन बिताने चला आता है।

९८. यहां पर व्रत की अवधि तो पूरी बीत जाती है, परन्तु वेद का अभीष्ट अध्ययन पूरा नहीं होता, फिर भी ब्रह्मचारी संसार में प्रविष्ट हो जाता है।

९९. यहां वेदाध्ययन और ब्रह्मचर्य पालन की अवधि दोनों ही पूरी कर के ब्रह्मचारी घर को लौटता है। **समावर्तते**—सम्+आ+√वृत्+लट् प्रथम पु० एक व०। लौटता है, गृहस्थ बनने के लिए गुरुकुल छोड़ कर लौटता है।

उपनयन की चरम सीमा

१००—१०३—उपनयन की क्षिप्रतम या निम्नतम सीमा का निर्देश तो किया जा चुका है। तो भी परिस्थितियों के कारण यदि किसी का उपनयन उस काल में न हो सके तो ब्राह्मण का उपनयन १६ वर्ष तक, क्षत्रिय का २२ वर्ष तक और वैश्य का २४ वर्ष की आयु तक कराया जा सकता है। इस के पश्चात् उन्हें उपनयन का अधिकार नहीं रहता और वे गायत्री के उदेश से वञ्चित हो जाते हैं। सावित्री के उपदेश के बिना वे वेदाध्ययन के अधिकारी नहीं बनते हैं। **पतितसावित्रीकाः**— पतिता अधिकार भावान्निःसृता सावित्री येभ्यस्ते। मनु ने इस अवधि को केशान्त संस्कार का काल माना है। (२।६५)। म० २।३८ भी देखें।

१०४. इस में पतित सावित्रिकों को उपनयन, अध्यापन, याजन और व्यवहार से वञ्चित किया गया है। यह व्यवहार कुछ दिन पूर्व हिन्दू समाज में प्रचलित जातिच्युत और धर्मच्युत करने की प्रथा के अनुरूप है।

मनु के काल में ऐसे लोगों को **व्रात्य** कहा जाता था (देखो मनु०२।३९)। इतना कठोर व्यवहार करने पर भी उन्हें व्रात्यस्तोम नामक यज्ञ कर के पुनः सभ्य (=आर्य) समाज में स्थान पाने का अधिकार दिया गया था। कालान्तर में इस अधिकार का प्रयोग स्वेच्छा से न करने वाले या न करने के लिए अन्यों द्वारा विवश किए हुए लोग ही पतित—आधुनिक शूद्र बने होंगें। यदि ऐसा हो तो विचारणीय यह है कि ये व्रात्य से शूद्र कैसे कहलाए जाने लगे।

(ii) **उपनयेयुः**— उप+√नी+विधिलिङ् प्रथम पु० बहु व०। **अध्यापयेयुः**—अधि+√इ+णिच्+विधिलिङ् प्रथम पु० बहु व०। **याजयेयुः**—√यज्+णिच्+विधिलिङ्। प्रथम पु० बहु व०। **व्यवहरेयुः**—वि+अव+√हृ+विधिलिङ् प्रथम पु० बहु व०। इस का भाव विवाह शादी आदि धार्मिक और सामाजिक कर्म हैं।

१०५. **कालातिक्रमे**—कालस्यातिक्रमे। उपरोक्त चरम अवधि के बीत जाने पर। जयराम और हरिहर भाष्यकारों ने इस का अर्थ गर्भाधान आदि समस्त संस्कारों के निश्चित समय का पालन न करना समझा है। परन्तु यहां पर समस्त प्रकरण उपनयन संस्कार का ही है। अतः उतना ही भाव अभीष्ट है, भाष्यकारों का विस्तृत अर्थ नहीं। **नियतवत्**—भाष्यकारों के मत में इस का भाव यह है—नित्य कर्मों के न करने के पाप से छुटकारा पाने के लिए श्रौत सूत्रों में विहित स्मार्त अनादिष्ट सर्वप्रायश्चित्त करे। इस प्रायश्चित्त के करने पर संस्कारों का पुनः अधिकार प्राप्त हो जाता है। श्री हरिहराचार्य लिखते हैं कि यहां काल का अतिक्रमण केवल उपनयन विषयक ही नहीं है, प्रत्युत अन्य कर्मों का अतिक्रमण करने पर भी यही अनादिष्ट सर्वप्रायश्चित्त करना होता है, इस का कारण यह है कि गृह्यसूत्रकार ने अन्य किसी प्रायश्चित्त का विधान नहीं किया है। इस का अर्थ यह भी किया जा सकता है—नियत=नियमों के पालक—संयमी के समान आचरण करे। जैसा संयमी विद्वान् आचरण करे या उपदेश करे वैसा ही आचरण आदि करें। हिन्दी अनुवाद भाष्यकारों के आधार पर किया गया है।

१०६. **त्रिपुरुषम्**—त्रीन् पुरुषान् यावत् इति त्रिपुरुषम् । तीन पीढ़ियां—पिता, पुत्र, और पौत्र—जिन की सावित्री के उपदेश को प्राप्त नहीं कर सकी हैं। **अपत्ये**—जिन की तीन पीढ़ियों में उपनयन संस्कार नहीं हुआ है उन की सन्तान। चौथी पीढ़ी और उस के आगे। **संस्कारो नाध्यापनं च**—इस में 'न' का सम्बन्ध मध्य में स्थित दीपक के समान संस्कारः और अध्यापनम्—दोनों से है। हरिहर आचार्य के विचार में 'न' का सम्बन्ध केवल अध्यापनम् से है। अतः वे मानते हैं कि उपनयन तो किया जा सकता है। परन्तु अध्यापन नहीं—'त्रिपुरुषं त्रीन पुरुषान् यावत् ये पतितसावित्रीकाः पितृपौत्रास्तेषामपत्ये पुत्रे संस्कारः उपनयनं भवति न पुनश्चतुर्थादीनां तेषां च उपनीतानामपि अध्यापनं न भवति।' परन्तु यह मत समीचीन नहीं। उपनयन होते ही उपनेता से उपनीत को अध्ययन का अधिकार स्वतः प्राप्त हो जाता है। पं० सुखदेव समझते हैं कि 'नियत प्रायश्चित्त करने पर भी जिन लोगों का तीन पीढ़ी तक उपनयन न हुआ हो, उन की चौथी पीढ़ी के पुरुष का उपनयन नहीं हो सकता न वह वेद पढ़ने का अधिकारी है।'

१०७. **तेषाम्**—इन सावित्री के उपदेश से और उपनयन के अधिकार से वञ्चित पूर्व सूत्र में वर्णित पुरुषों में से। **ईप्सुः**—√आप्+सन्+उ+पुल्लिंग प्रथमा एक व०। **व्रात्यस्तोम**—एक यज्ञ होता है जिस में पतितों को शुद्ध किया जाता है और उन्हें फिर से यज्ञ आदि कर्मों का अधिकार दिया जाता है। स्वामी दयानन्द ने इसी के आधार पर पिछली शताब्दी में विधर्मियों को शुद्ध करने और दलितों के उद्धार का आन्दोलन चलाया था।

(ii) यहां यह जानना भी परम आवश्यक है कि पारस्कराचार्य ने पतितसावित्रीकों को **व्रात्य** नहीं कहा है। यह नामकरण मनु आदि पिछले लेखकों का है। अथर्ववेद के व्रात्यकाण्ड में व्रात्य नीचता का द्योतक नहीं। वहां वह सृष्टि के आदिकारण परमात्मा और विद्वान् सदाचारी पूजनीय अतिथि आदि का द्योतक है। (देखो अवे० १५।१०; १२; १४—१८। व्रात्य-

काण्ड के डा० सम्पूर्णानन्द और पं० क्षेमकरण और जयदेव आदि के भाष्य देखें)। अवे० १५।१२ के अनुसार व्रात्य की आज्ञा के बिना यज्ञ से अभीष्ट लाभ नहीं होता। अध्ययन और अध्यापन भी यज्ञ हैं। अतः व्रात्य को सन्तुष्ट कर के ही पतितसावित्रीक इन यज्ञों से लाभ उठा सकते हैं। यही भाव व्रात्यस्तोम यज्ञ के किए जाने का प्रतीत होता है।

(iii) **कामम्**—इच्छानुसार, अथवा निर्विवाद रूप से। **अधीयीरन्**—अधि + √इ + विधिलिङ् प्रथम पुरुष बहु वचन। **व्यवहार्याः**—वि + अव + √हृ + ण्यत् + पुल्लिंग प्रथमा बहु वचन। इस प्रमाण का स्थल मृग्य है।

(iv) यहां पर पं० सुखदेव ने वेदारम्भ संस्कार का विधान माना है।

१०८. यहां से अन्त तक का भाग पारस्कर गृह्यसूत्र का अंश नहीं है। गुजराती प्रेस के संस्करण में इसे कोई स्थान नहीं दिया गया है। पञ्च भाष्यकारों में से गदाधर और विश्वनाथ ने अपने भाष्यों में पूर्व प्रकरण के भाष्य के अन्त में सूसं० १०८–१२४ में वर्णित क्रियाओं का मन्त्रों के विनियोग को दर्शाते हुए विधान किया है।

(ii) इस भाग में छै वेदव्रतों का विधान किया गया है। इन में सावित्र व्रत छै रात्रियों या तीन रात्रियों में या तुरन्त ही उपनयन के समय पूरा किया जा सकता है। इस में सवितृदेवता के मन्त्रों का पाठ और अध्ययन अभीष्ट है।

(iii) शेष पांच वेदव्रत एक वर्ष की अवधि वाले हैं। आग्नेय में 'समिधाग्निम्' (य० ३।१) आदि अग्निविषयक मन्त्रों के, शुक्रिय व्रत में 'ऋचं वाचं प्र पद्ये' (य० ३६।१) आदि के शुक्रिय विभाग के, औपनिषद व्रत में 'द्वयाः ह प्राजापत्य' (?) आदि उपनिषद् भाग के, शौलभ व्रत में 'आ ब्रह्मन्' (य० २२।२२), 'उदीरतामवर' (य० १९।४९), 'आ नो भद्राः' (य० २५।१४), 'आशुः शिशानो' (य० १७।३३) और 'इमा नु कं' (य० २५।

४६)—इन शौलभिनी ऋचाओं के अध्ययन, पाठ और श्रवण अभिप्रेत हैं। गोदान व्रत की अवधि की समाप्ति पर गुरु को गायों का जोड़ा देने का विधान है। इन में से शुक्रिय, औपनिषद और शौलभ में अवगुण्ठन भी होता है जिस की विधि सूसं० ११६ में बताई गई है।

(iv) इन सब व्रतों में अग्नि का परिसमूहन, समिधादान आदि सब कर्म किए जाते हैं। और व्रत की समाप्ति पर उस का विसर्जन भी किया जाता है। इस की विधि का विस्तार गदाधर और विश्वनाथ आचार्यों ने अपने भाष्यों में किया है। यह सब अनावश्यक होने से यहां उद्धृत नहीं किया जाता है।

११०. **उदीत्य**—उत्+√ईक्ष्+ल्यप्। देख कर, अर्थात् पूरा कर के। **अपः**—भाष्यकारों के क्रियावर्णन के अनुसार और 'अप्स्वन्तर' मन्त्र के विनियोग के कारण यहां सप्तमी के स्थान पर द्वितीया का प्रयोग हुआ है। **अप्स्वन्तः**—इस प्रकरण में प्रयुक्त मन्त्रों का विनियोग के अनुकूल अथवा अन्य कोई अर्थ नहीं दिया जा रहा है, क्यों कि यह सारा प्रकरण ही मूल लेखक को अनभिप्रेत है। वैसे भी यहां की क्रियाएं उपनयनोत्तरकालीन और वेदाध्ययन विषयक हैं। इन समस्त मन्त्रों का अर्थ ग्रन्थ को विशालकाय बना देगा। इन के अर्थ दयानन्द भाष्य में देखे जा सकते हैं।

११२. **उपव्रतम्**—भाष्यकारों ने व्रतों की समाप्ति पर व्रत के विसर्ग का विधान किया है। यही विसर्ग यहां 'उपव्रत' मालूम पड़ता है।

११३. **अवगुण्ठनम्**—यहां पर शुक्रों, औपनिषदों और शौलभिनियों से श्रावण (=सुनना) ही अवगुण्ठन माना गया है।

११५. **अविद्यमाने**—यदि सूसं० ११३–११४ में वर्णित अवगुण्ठन का प्रयोग न किया जाए तो 'आ ब्रह्मन्' आदि सूत्र में प्रदत्त मन्त्रों रूपी वेदशिरस् (=वेदज्ञान के सार)[1] से अवगुण्ठन किया जाये।

---

१. तु० क० प्राणोऽग्निः शीर्षम्। कौ० ८।१ तथा श्रीर्वै शिरः। श० १।४।५।५।

११६. सूसं० ११३ में मन्त्रों को ही अवगुण्ठन बताया था। यहां पर उन के साथ प्रतीक रूप में वस्त्र के परिधान का भी वर्णन पाया जा रहा है।

११८. इस की विधि का सूसं० १२२ की विधि से साक्षात् विरोध है जिस का समाधान विचारणीय है। व्युष्टायाम्—उषा काल हो जाने पर। अरण्ये—इसे अरण=ज्ञान से व्युत्पन्न मान कर अध्यात्म में मन्त्रों रूपी सूसं० ११३ में वर्णित अवगुण्ठन का विसर्जन मानने पर सूसं० १२२ से विरोध का कुछ समाधान दिखाई पड़ता है। वहां पर वस्त्र की अवगुण्ठनी का विधान है, जो गुरु को दी जाती है।

११९. इन मन्त्रों का अर्थज्ञान पूर्वक जप प्रातः काल में अभीष्ट है।

१२१. शान्तिभाजनम्—अवगुण्ठनी के समान यह भी दो प्रकार का है—'द्यौः शान्तिः' इस मन्त्र के रूप में और दूसरा धात्वादि से निर्मित पात्र जो गुरु को आश्रम में सब के प्रयोग के लिए भेंट कर दिया जाता था।

१२३. गोदानम्—यह उपनयन संस्कार की दक्षिणा में दी जाती होगी। इस में ब्रह्मचारी द्वारा अपने ज्ञान के अन्यों को प्रवचन आदि द्वारा प्रदान करने की प्रतिज्ञा का अवशेष प्रतीत होता है क्यों कि गो=वाक् ज्ञान और यज्ञ का प्रतीक है। तु० क० तैउ० स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां मा प्रमद। तथा ऋ० १०।६०।१६; ११७।६; अवे० ५।१६ आदि।

श्रीयुत ला० रामस्वरूप जी गुप्त और श्रीमती चन्दन देवी के पुत्र, आचार्य डा० नरेन्द्रनाथ चौधुरी के शिष्य और आचार्य डा० फतहसिंह के शोधशिष्य
आचार्य डा० **सुधीर कुमार गुप्त** एम० ए०, पीएच० डी०,
शास्त्री, प्रभाकर, स्वर्णपदकी द्वारा प्रणीत पार-
स्करीय उपनयनसूत्रों की **सुकाशिनी**
टिप्पणियां समाप्त हुईं।

—:○o○:—

वेदालवरणम्

पारस्करीयोपनयनसूत्राणि

अकारादिवर्णानुक्रमेण पदानां विषयाणां चानुक्रमणिका

(इस अनुक्रमणिका में पदों आदि के आगे सूत्रों की संख्या दी गई है। उस के आगे कोष्ठकों में टिप्पणियों में बनाये गए संदर्भों के अंक हैं। जहां पृ० लिखा है वहां उस के आगे की संख्या टिप्पणियों के पृष्ठ की है।)